ISSN 2229-6328
भाग - सप्तत्रिंश, तृतीय खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका



वैदिक विमर्श

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भागः सप्तत्रिंश तृतीय खण्ड (वि. सं. २०७९)

वैदिक विमर्श

प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु **डा. वाचस्पति मिश्र**

मूल्याङ्कनकर्त्ता

प्रो. कमलेश छः चौकसी
गुजरात विश्वविद्यालय,
अहमदाबाद

प्रो. बी. के. पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

जुलाई - सित. २०२२ **मूल्य १००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

- स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,
मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)
दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:
pavamani86@gmail.com

- **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८
भाग: सप्तत्रिंश, तृतीय खण्ड
जुलाई-सित. २०२२

- प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

- मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

- प्रेरणास्रोत :

प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

- प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

- सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु
०९८३७६४७४२७

डॉ. वाचस्पति मिश्र
०९३१९००२४०२

- **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२३ गते
- **सृष्टि आदितः** १,९६,०८,५३१२३ गते
- **युगाब्द** ५१२४
- **दयानन्दाब्द** १९८

सम्पादकीयम्

'**सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा**' यह वेदसूक्ति भारतीय संस्कृति को विश्व की सर्वप्रथम संस्कृति घोषित करती है। यह विश्वकल्याण की गङ्गोत्री विश्ववाङ्मय के स्रोतरूप वेदों के माध्यम से युग-युगान्तर तक बहती हुई भारतीयों के ही नहीं, अपितु समस्त मानवजाति के जीवन को पावन करती आई है। लोक के साथ परलोक का, मृत्यु के साथ पुनर्जन्म या मोक्ष का, व्यष्टि के साथ समष्टि का, विचार के साथ व्यवहार का; पुण्य, चतुर्विध पुरुषार्थ तथा तत्त्वज्ञान आदि विविध विषयों का चिन्तन प्रवाह इसी वेदविचारधारा से ही तो स्यन्दित होता हुआ विश्ववाङ्मय को पथप्रदर्शित करता है। वैदिक ऋषियों ने इन वेदचतुष्टय का साक्षात्कार कर ज्ञानपिपासुओं की मानसभूमि को अपनी संगीतमयता, भावपूर्णता, परिष्कृत भाषा और छन्दवैविध्य की श्रुतिमधुर लहरिओं से रसाप्लावित किया है। इसीलिए तन्द्रारहित होकर वेदों का स्वाध्याय प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य माना है- **वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ॥**

इस वैदिक श्रेष्ठ मार्ग पर अविचल भाव से चलने के लिए मानव को प्रतिक्षण जागरूक रहने की आवश्यकता है, क्योंकि संसार के आकर्षण एवं इन्द्रियों की विषयों में मुख्यता मानव को सतत भोगविलास की ओर आकर्षित करते रहते हैं। कठोपनिषत्कार के शब्दों में -

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥

कठ. ३।१४

यह मार्ग छुरे की धार के समान है। श्रेष्ठ पुरुष इसे कठिन मार्ग बताते हुए सतत इसी पर चलने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसीलिए प्रतिक्षण सावधान रहने की नितान्त आवश्यकता है। स्वयं वेद मनुष्यों को जागरूक होने का स्पष्ट शब्दों में उद्घोष करता हुआ कहता है -

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

ऋग्. ५।४४।१४

जो जागता है, उसे ऋग्वेद का ज्ञान तथा सामवेद की उपासना शक्ति प्राप्त होती है। जो जागता है, शक्ति और आनन्द के भण्डार प्रभु उससे कहते हैं कि "मैं तेरा मित्र हूँ।"

इस सत्य सनातन वैदिक संस्कृति की रक्षा के लिए हमारे पूर्वज ऋषि-मुनिओं ने जागरूक रहते हुए अहर्निश ज्ञानसाधना, प्रयोग, निरीक्षण और अनुभूति के आधार पर वैदिक ज्ञान की एक उज्ज्वल, अनन्त और अमूल्य विरासत हमें प्रदान की है, जिसको सुरक्षित करते हुए इसका प्रचार-प्रसार करना हमारा कर्तव्य बन जाता है। इसी सन्दर्भ में दक्ष स्मृति में वेदपरम्परा एवं वेदाध्ययनपद्धति को संरक्षित करने के पाँच सोपान निर्देशित किए हैं, जिन पर विचार करना यहाँ आवश्यक और प्रासिङ्गक प्रतीत होता है। दक्षस्मृतिकार कहते हैं-

वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽध्ययनं जपः।
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा॥

पहले सोपान में वेद या वैदिक ज्ञान को स्वीकार करना बताया गया है। जब तक हम किसी भी वस्तु की स्वीकृति का भाव मन में नहीं लाते, तब तक उस पर श्रद्धा या विश्वास हमारे मन में नहीं आ सकता। दूसरे क्रम में स्वीकृत वेदविद्या पर विचार-मनन करने को कहा गया है क्योंकि मनन करने से ही हमारा मनुष्य नाम सार्थक होता है। तीसरे क्रम में मनन

करने के बाद उसका सतत अभ्यास करना निर्दिष्ट किया है, चतुर्थ स्तर में अभ्यस्त विद्या का जप करने का विधान किया गया है। इस प्रकार इन चार सोपानों से मनुष्य अपनी विद्या को मन में स्थिर कर लेता है। इन चार सोपानों के उपरान्त पाँचवा सोपान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमें इस अधीत, अभ्यस्त और हृदयङ्गम वेदविद्या को शिष्य को प्रदान करना भी अत्यावश्यक कहा गया है। जिसे हमने पढ़ा है, उसे अन्य लोगों को पढ़ाना भी है। इस तरह वेद या ज्ञान का अभ्यास पाँच प्रकार से समझाया गया है।

वेदज्ञान की यह परम्परा केवल वेदमन्त्रों के उच्चारण और विकृतिपाठ तक सीमित न रह कर वेदमन्त्रों में निहित रहस्यों के उद्घाटन हेतु संहिताओं से आगे बढ़कर ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों और वेदाङ्गो के अध्ययन और अनुशीलन तक क्रमश: प्रवर्तित होती रही है। इन सभी ग्रन्थों में मन्त्रों के अर्थघटन करने की विशिष्ट दृष्टि प्राप्त होती है, विशेषत: यास्क के निरुक्त ने इस सन्दर्भ में नई दिशा प्रदान की है। आचार्य यास्क स्वयं आग्रायण, और्णवाभ, औपमन्यव, स्थौलाष्ठीवि, कात्थक्य, शाकपूणि, गार्ग्य, चर्मशिरा, शतबलाक्ष आदि के अभिप्रायों को नामनिर्देश के साथ उल्लेख करते हैं। वेद के सम्बन्ध में इन के मत-मतान्तर, इनकी बौद्धिक और विद्या की अनवरत प्रवृत्ति को प्रदर्शित करते हैं। मूलत: वैदिक मन्त्रों के अर्थघटन के लिए भिन्न-भिन्न अभिगम और भाष्यकारों के पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों का परिचय हमें निरुक्त के माध्यम से प्राप्त होता है। इसी प्रकार शतपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण यज्ञादि कार्य सम्पादन तथा कथा एवं आख्यानों के माध्यम से हमें वेदार्थ रहस्यों के समाधान में सहायता प्रदान करते हैं। इन सभी का मूल उद्देश्य वेदाध्ययन पद्धति को मानव के लिए सुलभ बनाना और चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति कराना ही है।

इस वेदविद्या की स्वीकृति, विचार, अभ्यास, जप और प्रचार-प्रसार हेतु विगत अनेक वर्षों से स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ प्रतिवर्ष दो शोधसंगोष्ठियों का आयोजन करता है। इन शोध संगोष्ठियों में पठित शोधलेखों को पावमानी नामक त्रैमासिक शोधपत्रिका में प्रकाशित कर आर्ष वैदिक ज्ञान को देश देशान्तर तक यह शोध संस्थान पहुँचा रहा है। साथ ही यह शोध संस्थान नवीन अज्ञात विषयों और ग्रन्थों को केन्द्र में रखते हुए उस पर अनेक भाष्यकारों की दृष्टि से अध्ययन और चिन्तन करने का अवसर प्रदान करता है। केवल संहिता या उपनिषद् भाग तक सीमित न रहते हुए ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, प्रातिशाख्य और सूत्रग्रन्थों से सम्बद्ध विषयों पर भी पावमानी के पूर्व में अनेक अङ्क प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत अङ्क वेद, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, गौतमधर्मसूत्र, माण्डूक्योपनिषद् आदि ग्रन्थों में निहित विशिष्ट बिन्दुओं पर वेद के विद्वानों के द्वारा सतत अनुसन्धान करने का परिणाम है। इन लेखों में ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों के साथ उनमें निहित सार को सरलता से समझाने का तो प्रयास किया ही है तदुपरान्त इनमें अपनी शोधप्रज्ञा, विशिष्ट प्रतिभा और अवबोधक्षमता के द्वारा विषयों को स्पष्ट करते हुए वैदिक ऋषिओं के त्रिकालदर्शी दृष्टिकोण को भी प्रदर्शित किया गया है। आशा है पावमानी का यह नवीन अङ्क वेदानुरागी, स्वाध्यायशील, अनुसन्धानकर्मपरायण जिज्ञासुओं के ज्ञानचक्षुओं के उन्मीलन में उपादेय सिद्ध होगा तथा वेद प्रचार के महत् कार्य को अनुष्ठित करेगा।

प्रो. सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

माण्डूक्योपनिषद् में चैतन्य-विमर्श

प्रो. डॉ. शशिप्रभा कुमार[१]

वैदिक वाङ्मय के अन्तिम सोपान पर प्रतिष्ठित उपनिषद् मानवीय मनीषा के उदात्ततम स्तरों की अनुभूतियों की अविकल अभिव्यक्ति हैं। क्रान्तद्रष्टा ऋषियों की तपःपूत अन्तःप्रज्ञा से प्रसूत उपनिषदों के वचन सार्वभौम एवं सार्वकालिक सन्देशों के संवाहक होने से समस्त विश्व में समादृत हैं। विश्व के अनेकानेक विश्रुत विद्वानों ने उपनिषदों के गौरव-गान में अपना योग किया है।[२] जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर तो उपनिषदों पर इतना मुग्ध था कि प्रत्येक रात्रि शयन से पूर्व इनसे प्रेरणा ग्रहण किया करता था। उसका यह वक्तव्य चिरपरिचित होने पर भी यहाँ समुद्धरणीय है-

"सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों की भाँति जीवन को उत्कृष्ट बनाने वाला कोई ग्रन्थ नहीं है। उपनिषदों ने मुझे जीवन भर शान्ति दी है। उपनिषद् मेरे लिए मृत्यु में भी शान्तिप्रद होंगे।"[३]

---

[१] **अध्यक्ष, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला**

[२] द्रष्टव्य : चटोपाध्याय, बसन्त कुमार, "पाश्चात्य विद्वानों पर उपनिषदों का प्रभाव", कल्याण, उपनिषद-अङ्क, नवाँ पुनर्मुद्रण (गीताप्रेस, गोरखपुर: संवत् २०६५), पृ. ८७-८९

[३] आर्थर शॉपेनहावर, परेर्गा एण्ड परलिपोमेना (जर्मन), II, पृष्ठ ३९६

प्रमुख एवं प्राचीन एकादश उपनिषदों में माण्डूक्योपनिषद् का अन्यतम स्थान है।[४] अथर्ववेद के ब्राह्मणभाग से सम्बन्धित यह गद्यात्मक उपनिषद् आकार में सबसे सीमित, किन्तु कथ्य में सबसे महत्वपूर्ण कही जा सकती है।[५] इसमें केवल द्वादश सूत्रात्मक वचन हैं जिनमें भारतीय दर्शन के सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त ओङ्कार-रहस्य एवं आत्मा की चैतन्यरूपता का सार समाहित कर मानो 'गागर में सागर' भरने का निदर्शन प्रस्तुत किया गया है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रस्तुत उपनिषद् का नाम 'माण्डूक्य' मण्डूक प्रतिपादिक से निष्पन्न किया गया है। एक विचार के अनुसार यह उपनिषद् मण्डूक नामक ऋषिप्रणीत होने से 'माण्डूक्य' कहलाई अथवा इस उपनिषद् का साक्षात्कार वर्षा के अधिपति वरुणदेव को मण्डूक का रूप धारण करने पर हुआ था, इसलिए इसका नाम माण्डूक्योपनिषद् पड़ा।

द्वितीय मतानुसार, मण्डूक का रूढ अर्थ 'मेंढक' है और जैसे मेंढक की गति प्लुतात्मिका होती है (व्याकरण में भी 'माण्डूकप्लुति' प्रसिद्ध है), उसी भाँति इस उपनिषद् की प्रतिपादन-शैली भी मानो एक से दूसरे स्तर तक प्लुतगति से छलाँगें लगाती हुई प्रतीत होती है- सम्भवतः इसीलिए इस उपनिषद् का नाम 'माण्डूक्य' उपनिषद् प्रचलित हुआ। अस्तु-

उल्लेखनीय है कि इस प्रस्तुति का क्षेत्र मूल माण्डूक्योपनिषद् तक ही सीमित है, अतः माण्डूक्यकारिका के प्रणेता आचार्य गौड़पाद,

---

[४] माण्डूक्यम् एकं केवलं मुमुक्षूणां विमुक्तये। - मुक्तिकोपनिषद्, पृष्ठ २७

[५] मुखोपाध्याय, गोविन्दगोपाल, स्टडीज़ इन द उपनिषद्ज़ (कलकत्ता संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता, १९६०), पृष्ठ २१

भाष्यकार शङ्कर अथवा आचार्य मध्व के मन्तव्यों की मीमांसा यहाँ प्रधान अभीष्ट नहीं, यद्यपि उपनिषद् के अर्थ-विवेचन हेतु इन आचार्यों के वचनों का आश्रय यथास्थल अवश्य लिया जायेगा। जहाँ तक माण्डूक्योपनिषद् एवं माण्डूक्यकारिका के पौर्वापर्य का प्रश्न है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि माण्डूक्योपनिषद् ही प्राचीनतर है[६] तथा वहीं यहाँ प्रमुखतः विवेच्य है। 'उपनिषद् की व्याख्या उपनिषद् से ही हो' यही दृष्टि अपनाते हुए यत्र-तत्र अन्य उपनिषदों के वचनों से सङ्गति स्थापित करने का भी प्रयास किया जायेगा।

माण्डूक्योपनिषद् का आरम्भ ओङ्कार-महिमा के प्रख्यापन से होता है। ओ३म् पद का प्रयोग सर्वप्रथम यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय[७] में हुआ है जिसका अपर नाम 'ईशावास्योपनिषद्' भी है। सम्भवतः इसीलिए यह कहा गया है कि ओ३म् पद प्रथमतः उपनिषदों में ही प्राप्त होता है।[८] वस्तुतः विभिन्न उपनिषदों में ओ३म् के महत्त्व का अनेकशः निर्देश हुआ है।[९] यही कारण है कि पुरातन भारतीय परम्परा और अधुनातन कर्मकाण्ड दोनों ही ओ३म् के माहात्म्य तथा माङ्गलिकता को समान स्वर से स्वीकार करते हैं।[१०] व्युत्पत्ति की दृष्टि से ओ३म् वह है जो

---

[६] विस्तार हेतु द्रष्टव्य - द फिलासफी ऑफ माण्डूक्यकारिका, कैटरीना कोनियो, (भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी: १९७१), पृष्ठ १०-११

[७] 'ओ३म् खं ब्रह्म'। यजु०, ४०/१७

[८] Williams, Monier, Sanskrit - English Dictionary, (Sharada Publishing House, Delhi : २००५, Reprint), P. २३५

[९] (क) 'ओमिति ब्रह्म'।

[१०] ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ॥ - श्री शङ्करमिश्र द्वारा वैशेषिकसूत्र 'उपस्कार' में उद्धृत, (चौखम्बा, वाराणसी: २००२, द्वितीय

रक्षा करता है[११] तथा कोशार्थ के आधार पर ओ३म् एक पवित्र ध्वनि है जो स्वीकार, अङ्गीकार एवं रोष अर्थों में भी प्रयुक्त होती है।[१२] यही कारण है कि परवर्ती काल में प्रत्येक वेदमन्त्र के पूर्व ओ३म् के उच्चारण का विधान मान्य हुआ जो अद्यावधि अक्षुण्णतया प्रचलित है। [१३]

परमतत्त्व का वर्णन माण्डूक्योपनिषद् में ओ३म् के द्वारा ही प्रारम्भ किया गया है तथा ओङ्कार पर ही समाप्त किया गया है। इसमें ओ३म् की तीन मात्राओं एवं चौथी अमात्रिक दशा की सङ्गति चेतना की चार अवस्थाओं से स्थापित की गयी है तथा उसे बहुत आध्यात्मिक महत्त्व दिया गया है। इसलिए यह कहना समीचीन है कि "हम माण्डूक्योपनिषद् से अधिक प्रणव-ध्यान का महत्त्व तथा इसका आध्यात्मिक मूल्य अन्यत्र नहीं पाते"।[१४]

माण्डूक्योपनिषद् के बारह संक्षिप्त सूत्रात्मक वाक्यों में चैतन्य के विषय में जिन महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है, वे निम्नलिखित हैं -

संस्करण)

[११] ओङ्कारेति॥ अवति। 'अवतेष्टिलोपश्च' (उ. १/१/१४२)। - अमरकोशः, (रामाश्रमी टीका, शब्दादिवर्गः), पृष्ठ ६५

[१२] पाण्डे, राजबली, हिन्दू धर्मकोश, (उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान हिन्दी समिति प्रयाग, लखनऊ : द्वितीय संस्करण १९८८, प्रथम संस्करण १९७८), पृष्ठ १४७

[१३] (क) 'ओमभ्यादाने'। - पाणिनिसूत्र, ८/१२/८७

(ख) तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपक्रियाः॥
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ - श्रीमद्भगवद्गीता, १७/२४

[१४] रानाडे, आर. डी., उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, हिन्दी अनुवादक-रामानन्द तिवारी, (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर : १९८९ तृतीय संस्करण), पृष्ठ २१८

(i) ओङ्कार ही अक्षर है-

ओङ्कार ही यह (बोला जाने वाला) अक्षर है[१५], ओङ्कार ही अक्षर (कभी क्षय न होने वाला) ब्रह्म है।[१६] तदनुसार ओङ्कार के दो रूप हैं- ध्वन्यात्मक और प्रतीकात्मक। इनमें से प्रथम तो परमसत् का वाचक है और द्वितीय उसका प्रतीक; इस दृष्टि से यह पर एवं अपर-ब्रह्म के दोनों रूपों[१७] का ज्ञापक है।

(ii) यह समस्त संसार उस ओ३म् अक्षर की ही व्याख्या है-

यह जो भी दृश्य एवं अदृश्य है; भूत, वर्तमान एवं भावी है- वह सब ओङ्कार ही है अर्थात् काल की तीन परिधियों में सीमित सब घटनायें इसी ओङ्कार की अभिव्यक्तियाँ हैं। साथ ही, इन तीनों कालिक सीमाओं से परे जो कुछ त्रिकालातीत है, वह भी ओङ्कार ही है।[१८] तात्पर्य यह है कि ओङ्कार की व्यापकता, ससीम एवं असीम, सान्त एवं अनन्त- इन दोनों कोटियों तक है, इसीलिए यह कथन सर्वथा सटीक एवं समीचीन है कि समस्त संसार ओङ्कार का ही व्याख्यानरूप है[१९]- इससे परे कुछ भी नहीं।

(iii) यह सब संसार ब्रह्म है[२०]-

यह समग्र जगत् जिसको ऊपर ओङ्कार रूप कहा गया है, वह बृंहणशील होने से ब्रह्म है। जैसे नामी नाम का अधिष्ठान होता है, उसी भाँति ओङ्कार जिसका नाम है, ऐसा वह ओङ्काररूप ब्रह्मा इस जगत् का

---

[१५] 'ओमित्येतदक्षरम्' - माण्डूक्योपनिषद्, १

[१६] तुलनीय - 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम्। - कठो., २/१६

[१७] 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' - प्रश्नोप., ५/२

[१८] 'भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यात्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव'। माण्डू. १

[१९] 'इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। - माण्डू., १

[२०] सर्वं ह्येतद् ब्रह्म'। - माण्डू., २

अधिष्ठान है।

(iv) यह आत्मा ब्रह्म है -

न केवल यह बाह्य जगत् अपितु सब जीवों में व्याप्त यह आत्मा[२१] ब्रह्म है। अन्य शब्दों में, पहले बाह्य विश्व में व्याप्त ब्रह्म को परोक्ष रूप में **'सर्वं ह्येतद्'** कहा गया था, अब उसी को प्रत्येक जीव के अन्दर समाये हुए प्रत्यगात्मा के रूप में प्रत्यक्षतः समझाते हुए कहते हैं कि यह आत्मा ब्रह्म है- **'अयमात्मा ब्रह्म'**[२२]।

(v) वह यह आत्मा चतुष्पात् है[२३]-

तदनन्तर माण्डूक्य-उपनिषद्कार का मूल मन्तव्य जिस सूत्रवाक्य में सङ्केतिक किया गया है, वह मानो अगले दस वचनों की पूर्वपीठिका निर्धारित कर देता है। तदनुसार वह ओ३म् नाम से कहा जाने वाला तथा यह अपने अन्तर्यामी आत्मा रूप में जाना जाने वाला **आत्मा चार पादों वाला है**[२४]। किन्तु निर्देष्टव्य है कि आत्मा के ये चार पाद उसके अभिन्न अंश हैं, पशुओं के चार चरणों के समान भिन्न-भिन्न अङ्ग नहीं। इसलिए भाष्यकार शङ्कराचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है -

---

[२१] 'आत्मा अततेर्वा। आप्तेर्वा। अपि वाप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूतः'। - यास्काचार्यप्रणीत निरुक्त, ३.१५

[२२] माण्डू., २

[२३] 'सोऽयमात्मा चतुष्पात्। - माण्डू., २

[२४] यहाँ उक्त तीनों वचनों में प्रयुक्त सर्वनाम पदों के प्रयोग विशेष ध्यातव्य हैं- प्रथमतः **'एतद्'** नपुंसकलिङ्ग परोक्षवाचक पदवाच्य जगत् को ब्रह्म कहा गया तथा उसके पश्चात् **'अयम्'** पुल्लिङ्ग प्रत्यक्षवाचक सर्वनाम से आत्मा को ब्रह्म बताया गया। तदनन्तर **'सोऽयम्'** यहाँ द्विरुक्त **'सः'** और **'अयम्'** पदों से उसकी अन्तरातमा से समीपस्थता सूचित की गई है।

चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरिवेति।[२५]

अर्थात् वह यह आत्मा कार्षापण (देशविशेष में प्रचलित सोलह पण मूल्य का एक (सिक्का) की भाँति चार पाद या अंश (जैसे कार्षापण के चार पाद चवन्नियाँ) वाला है, गौ की भाँति चार पैरों वाला नहीं।

उल्लेखनीय है कि सर्वप्रथम ऋग्वेद में ही परम सत्ता के चार पादों का सूत्र मिल जाता है जहाँ कहा गया है कि यह समस्त विश्व एवं इसके सभी प्राणी उस पुरुष का केवल एक पाद हैं जबकि उसके तीन पाद तो अमृतमय द्युलोक में निहित हैं[२६]। यजुर्वेद के एक मन्त्र में भी कहा गया है कि उस परमसत्ता के तीन पाद गुहा में निहित हैं और जो कोई उन्हें जान लेता है, वह पिता का पिता बन जाता है[२७]। सम्भवतः यही माण्डूक्योपनिषद् के चतुष्पात् सिद्धान्त का आधारस्रोत है यद्यपि यह कथन भी विचारणीय है कि वेद में इस दृश्य जगत् को पुरुष का एक पाद कहा गया है तथा अदृश्य लोक में उसके तीन पाद बताये गये हैं अतः क्रम-व्यत्यय अवश्य दृष्टिगत होता है।[२८]

जैसा कि पूर्वोक्त है, माण्डूक्योपनिषद् का प्रतिपाद्य चेतना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरों का विवेचन करना है, जो अतीव गहन-गम्भीर विषय है। इसीलिए उपनिषद्-विद्या आचार्य की सन्निधि में रहकर ही धीर, गम्भीर एवं अन्तर्मुखी शिष्य द्वारा अधिगत की जा सकती है। इसमें

---

[२५] माण्डू., २, पर शां.भा. (गौडपादीयकारिका, शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवादसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर: संवत् २०५२, सोलहवाँ संस्करण), पृष्ठ ९

[२६] 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'। - ऋ., १०/९०/३

[२७] 'त्रीणि पादानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत्। - यजु., ३२/९

[२८] फोर्ट, एन्ड्रयू ओ., द सेल्फ एण्ड इट्स स्टेट्स (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली: १९९०), पृष्ठ १५

दृश्यमान जगत् के स्थूल पदार्थों की चर्चा नहीं, अपितु उस सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा का साक्षात्कार अभीष्ट है जो समस्त ब्रह्माण्ड के सभी जीवों के अनुभव का विषय है। यही कारण है कि उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान किसी देश, जाति या काल विशेष के लिए नहीं अपितु समस्त मानवता के लिए सतत् प्रासङ्गिक एवं प्रेरणाप्रद है।[२१]

इसी दृष्टि से माण्डूक्योपनिषद् के अगले वचनों में ओङ्कार की चार मात्राओं एवं मानवीय चेतना के चार स्तरों के मध्य सङ्गति स्थापित करते हुए इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि ऊपर कहे गये आत्मा के 'चतुष्पात्त्व' का तात्पर्य क्या है? अतः सम्प्रति इसी विषय का विवेचन क्रम

---

[२१] "The Upanisads, though remote in time from us, are not remote in thought. They disclose the working of the primal impulses of the human soul which rise above the differences of race and of geographical position. At the core of all historical religions there are fundamental types of spiritual experience though they are expressed with different degrees of clarity. The Upanisads illustrate and illuminate these primary experiences. These are really the thoughts of all men in all ages and lands; they are not original with me. If they are not yours as much as mine, they are nothing or next to nothing" said Walt Whitman. The Upanisads deal with equestions which arise when men begin to reflect seriously and attempt answers to them which are nolt very different except in their approach and emphasis from what we are now inclined to accept." - S. Radhakrishnan, The Principal Upanisads, (Harper Collins Publishers, Noida, INDIA, Twentieth Impression, २००९, (First published in Great Britain by George Allen & Unvin Ltd.), Preface, P.१

प्राप्त है, तद्यथा-

(क) प्रथम पाद

आत्मा का प्रथम पाद 'वैश्वानर' कहा जाता है क्योंकि वह सकल नरों को अनेक प्रकार से ले जाने वाला है-

विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैवानरः।[३०]

इसे 'प्रथम पाद' इसलिए कहा जाता है कि अग्रिम तीनों पादों का ज्ञान इसके अनन्तर ही हो सकता है। व्यष्टिरूप में सब जीवों में व्याप्त इस **'वैश्वानर'** चैतन्य का स्थान जागृत् अवस्था है। जागृत् अवस्था में चेतना भीतर से निकलकर मानो बाहर आ जाती है, इसलिए उसको **'जागरितस्थान'** कहा गया है अर्थात् जीव की चेतना शरीर में आ जाती है। चूँकि इसमें चैतन्य की प्रवृत्ति बहिर्मुखी होती है, अतः इसे **'बहिष्प्रज्ञ'** कहते हैं यानि उसका ध्यान बाह्य विषयों की ओर होता है। इस स्थिति में, चेतना के बहिर्मुखी होने पर, जीवात्मा के सात अङ्ग होते हैं, अतः उसे **'सप्ताङ्ग'** भी कहा जाता है- सिर, आँख, कान, वाणी, फेफड़े, हृदय तथा पाँव ये सात अङ्ग हैं। एक अन्य व्याख्या के अनुसार भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य ये सात लोक ही इसके अङ्ग हैं।[३१] स्थूलविषयों का भोग करने वाला **'स्थूलभुक्'** यह वैश्वानर चैतन्य उन्नीस मुखों वाला है- **'एकोनविंशतिमुखः'**, उसके उन्नीस मुख हैं- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त। इन उन्नीस मुखों के द्वारा उक्त विशेषणों वाला **'वैश्वानर'** शब्दादि स्थूल विषयों को भोगता है इसलिए उसे **'स्थूलभुक्'** कहा गया है। भाव यह है कि

---

[३०] माण्डू., ३ पर शां. भा., पृष्ठ ११

[३१] कृष्णलाल, वेद-परिचय (हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९९३), पृष्ठ ५२

जीवात्मा के पास भोग के उन्नीस साधन हैं जिनसे वह संसार के स्थूल विषयों को भोगता है, अतः उसे उन्नीस मुखों वाला कहा गया है।

जैसा कि उक्त विवरण से स्पष्ट है, ये सात अङ्ग वस्तुतः शरीर के हैं, न कि आत्मा के। उसी भाँति ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण - ये पन्द्रह बाह्य करण तथा चार अन्तःकरण- मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त भी- शरीर में अधिष्ठित होने पर ही भोग के साधन बनते हैं, अतः ये भी शरीर से सम्बद्ध जानने चाहिए। तद्नुसार जाग्रदवस्था भी शरीर की है, चेतना की नहीं चूँकि चेतना तो सदा जागृत ही रहती है। इसीलिए यहाँ **'जागरितस्थान'** शब्द का प्रयोग किया गया है। "अवस्था तथा स्थान में भेद है। जब शरीर 'जागृत अवस्था' में होता है, तब जीवात्मा जाग्रत्-स्थान में होता है, जब शरीर 'स्वप्नावस्था' में होता है, तब जीवात्मा 'स्वप्नस्थान' में होता है, जब शरीर 'सुषुप्तावस्था' में होता है, तब जीवात्मा का 'सुषुप्तस्थान' है"।[३२]

(ख) द्वितीय पाद

आत्मा का द्वितीय पाद **'तेजस'** चैतन्य शरीर में अधिष्ठित कहा जाता है अतः यह **'स्वप्नस्थान'** है; इस अवस्था में स्थूल शरीर नहीं, अपितु सूक्ष्म शरीर सक्रिय होता है और वह तेज से निर्मित होता है। अन्य शब्दों में इसे "तेजस" इसलिए कहते हैं क्योंकि शरीर जब सो जाता है, स्वप्नस्थान में चला जाता है, तब जीवात्मा का यथार्थ तेजोमय रूप जो शरीर के अन्धकारमय आवरण से ढका हुआ था, चमक उठता है"।[३३] भाव यह है कि जब शरीर स्वप्नावस्था में होता है, तब जीवात्मा जाग्रत्-स्थान से हटकर स्वप्न-स्थान में सक्रिय हो जाता है, इसीलिए इस द्वितीय

---

[३२] सिद्धान्तालङ्कार, सत्यव्रत, एकादशोपनिषद्, (नई दिल्ली: १९८८), पृष्ठ १९४

[३३] वही, पृष्ठ १९६

पाद को आत्मा का **'स्वप्नस्थान'** कहा गया है। इसे **'अन्तःप्रज्ञ'** कहने का आशय यह है कि इस दशा में जीवात्मा का ध्यान बाहर से हटकर अन्दर की ओर चला जाता है। अतः जाग्रत्-स्थान में वैश्वानर चैतन्य जिस सात अङ्गों और उन्नीस मुखों से स्थूल विषयों का भोग करता है, स्वप्नस्थान में तैजस चैतन्य भी उन्हीं सात अङ्गों और उन्नीस मुखों से भोग करता है किन्तु यह भोग स्थूल शरीर से भोगे जाने वाले विषयों का नहीं, अपितु सूक्ष्म शरीर से भोगे जाने वाले मानस-जगत् का भोग है। इसलिए 'स्वप्नस्थान' में आत्मा 'स्थूलभुक्' नहीं, अपितु **'प्रविविक्तभुक्'** कहा जाता है। भाव यह है कि तैजस चैतन्य के लिए केवल वासना रूप प्रज्ञा ही भोज्य होती हैं, इसलिए उसका यह सूक्ष्म भोग प्रविविक्त भोग कहा जाता है। [३४]

(ग) तृतीय पाद

माण्डूक्योपनिषत्कार ने आत्मा का तृतीय चतुर्थांश शरीर की सुषुप्तावस्था में होने वाले 'सुषुप्तस्थान' चैतन्य को कहा है अर्थात् शरीर जब सुषुप्ति-दशा में होता है तब जीवात्मा 'सुषुप्तस्थान' कहा जाता है क्योंकि सुषुप्त शरीर न तो कोई कामना करता है न ही किसी स्वप्न को देखता है। शरीर की उस दशा को **'प्राज्ञ'** नाम दिया गया है जिसका अर्थ है- 'प्र+अज्ञ' अर्थात् अत्यन्त अज्ञान की दशा चूँकि सुषुप्तावस्था में शरीर जड़वत् होने से अत्यन्त अज्ञान की दशा में होता है, अतः उसे 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ) कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जब जीवात्मा स्वयं को स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर से मानो अलग सा कर लेता है, तब उसकी शक्तियाँ **'एकीभूत'** हो जाती हैं और वह **'प्रज्ञानघन'** होता है अर्थात्

[३४] इह पुनः कवेला वासनामात्ला प्रज्ञा भोज्येति प्रविविक्तो भोग इति। - माण्डू., ४ पर शां. भा., पृष्ठ १४

उसकी चेतना घनीभूत हो जाती है। इस अवस्था में जीवात्मा के भोग का साधन केवल उसकी अपनी चेतना मात्र रह जाती है, अतः उसे '**चेतोमुख**' कहा गया है। चूँकि सुषुप्ति में जीवात्मा 'प्रज्ञानघन' अर्थात् घनीभूत ज्ञान रूप हो जाता है, अतः उस समय वह '**आनन्दमय**' हो जाता है और आनन्द का ही भोग करता है, अतः इस स्थिति में जीवात्मा को '**आनन्दभुक्**' कहते हैं। इसीलिए तो सुषुप्ति से जागने पर व्यक्ति कहता है 'बड़े आनन्द से सोया'।

इस भाँति पूर्वोक्त रीति से माण्डूक्योपनिषद् में ऋषि ने 'चतुष्पात्' आत्मा के तीन पादों का वर्णन करते हुए जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्त-स्थानों में क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों के द्वारा स्थूल विषयों का, प्रविविक्त विषयों का एवं आनन्द का भोग करने वाले चैतन्य के बहिष्प्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ एवं प्राज्ञ-रूपों का विवेचन किया। अब आत्मा के चतुर्थ पाद का प्रतिपादन करने से पूर्व अग्रिम वाक्य में स्पष्ट कर रहे हैं कि उक्त तीन स्थानों में निवास करने वाले जिस जीवात्मा रूपी पिण्ड चैतन्य का उल्लेख किया गया है, वही ब्रह्माण्ड रूप में ईश्वर, सगुण ब्रह्म या अपर ब्रह्म है। इस दृष्टि से यह समष्टिरूप आत्मा या सगुण ब्रह्म सब ऐश्वर्यों से सम्पन्न '**सर्वेश्वर**' है, यह सब भेदों का जानने वाला '**सर्वज्ञ**' है। समस्त जीवों में अन्तःप्रविष्ट होकर उनका नियमन करने वाला '**अन्तर्यामी**' यही है। यह सबका कारण या आधार होने से जीवों की '**योनि**' है तथा चराचर भूतों का उत्पादक एवं विनाशक होने से उन सबका '**प्रभव**' और '**अप्यय**' भी है।

(घ) चतुर्थ पाद

आत्मा के तीन पादों तथा ब्रह्म के सगुण रूप का निरूपण करने के पश्चात् अब आत्मा के चतुर्थ पाद यानि निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म का

व्याख्यान अभीष्ट है, वस्तुतः वही माण्डूक्य उपनिषद् का विशिष्ट विवेच्य है। चूँकि निरुपाख्य होने से उसका इदमित्थंतया वर्णन अशक्य है, अतः केवल निषेधात्मक रीति द्वारा ही उसको समझा जा सकता है, तद्यथा-

१. **न अन्तःप्रज्ञम्** = वह अन्तःप्रज्ञ नहीं है, यह कहकर तैजस का निषेध किया है चूँकि चतुर्थ पाद उस द्वितीय पाद से परे है।[३५]
२. **न बहिःप्रज्ञम्** = वह बहिःप्रज्ञ नहीं है, यह कहकर प्रथम पाद से उसका पृथक्त्व प्रतिपादित किया है।[३६]
३. **नोभयतःप्रज्ञम्** = उभयतः प्रज्ञ नहीं है- इस वाक्य से जाग्रत् और स्वप्न के बीच की अवस्था का प्रतिषेध किया है।[३७]
४. **न प्रज्ञानघनम्** = प्रज्ञानघन नहीं है इससे सुषुप्तिरूप तृतीय पाद का प्रतिषेध किया गया है।[३८]
५. **न प्रज्ञम्** = 'प्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का निषेध किया गया है।[३९]
६. **नाप्रज्ञम्** = अप्रज्ञ नहीं - इससे अचेतनता का निराकरण किया है।[४०]
७. **अदृष्टम्** = वह ज्ञानेन्द्रियों से अज्ञेय है, अतः अदृष्ट है।
८. **अव्यवहार्यम्** = चूँकि वह आत्मा अदृष्ट है, इसलिए अव्यवहार्य है।[४१]

---

[३५] 'नान्तः प्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेधः' - माण्डू., ७ पर शां.भा., पृष्ठ ३९

[३६] 'न बहिः प्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः। - वही

[३७] वही

[३८] माण्डू., ७ पर शां.भा., पृष्ठ ४०

[३९] वही

[४०] वही

[४१] वही, पृष्ठ ४०

९. **अग्राह्यम्** = वह कर्मेन्द्रियों से भी अग्राह्य है।[४२]

१०. **अलक्षणम्** = लिङ्गरहित होने से उसका अनुमान सम्भव नहीं, अतः वह अलक्षण है।[४३]

११. **अचिन्त्यम्** = इसलिए वह अचिन्त्य है।[४४]

१२. **अव्यपदेश्यम्** = शब्दों द्वारा अकथनीय होने से अव्यपदेश्य है।[४५]

१३. **एकात्मप्रत्ययसारस्** = जाग्रदादि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में एक ही आत्मा है - ऐसा जो अव्यभिचारी अनुभव है, वही एकात्मप्रत्ययसार है।[४६]

इस भाँति 'नेति, नेति[४७] की पद्धति से आत्मा के चतुर्थ पाद को सङ्केतित करने के उपरान्त ऋषि कुछ विधिपरक विशेषणपदों से भी उसका वर्णन करने का प्रयास करते हैं क्योंकि उनके अनुसार वही वस्तुतः जानने योग्य है तथा केवल निषेधात्मक वचनों को सुनकर जिज्ञासु शिष्य उसके ज्ञान से विमुख हो सकता है। तद्नुसार, आत्मा का **चतुर्थ** एवं चरम पाद वह है जहाँ समस्त **प्रपञ्च** यानि संसार का **उपशम** हो जाता है, इसलिए वह **शान्त** यानि अविकारी, **शिव** यानि कल्याणकारी तथा **अद्वैत**[४८] यानि एकरसात्मक है, वही आत्मा है और उसे ही जानना चाहिए।

---

[४२] वही, पृष्ठ ४०

[४३] वही

[४४] वही

[४५] वही

[४६] वही, पृष्ठ ४१

[४७] बृहदा., ४.२.४

[४८] सम्भवतः इस पद का प्रथम प्रयोग यहीं हुआ है जिसके आधार पर परवर्ती दर्शन परम्परा में अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा हुई।

उल्लेखनीय है कि माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा की इस दशा को समझाने के कलिए 'चतुर्थ' पद का प्रयाग किया गया है जबकि माण्डूक्यकारिका में इसे तुर्य भी कहा गया है तथा तुरीय भी। शङ्कराचार्य के भाष्य में 'तुरीय' को चतुर्थ से अभिन्न कहा गया है- **'चतुर्थ तुरीयं मन्यन्ते'**।[४१]

माण्डूक्योपनिषद् के आरम्भ में ओङ्कार को ही ब्रह्म कहकर समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त बनाया गया था। स्वभावतः प्रश्न होता है कि ब्रह्म क्या है? तो ऋषि ने मानो स्वयमेव इस प्रश्न की सम्भावना करके कहा कि- यह आत्मा ही ब्रह्म है। अब पूछा जा सकता है कि इस आत्मा को कैसे जानें? तो उपनिषद्कार की ओर से अगला वाक्य बताता है कि वह यह आत्मा 'चतुष्पात्' है- वह अपना 'स्व' (आपा) है, जिसका हम जागते, स्वप्न देखते या सोते हुए प्रतिदिन अनुभव करते हैं। इसी क्रम में पूर्वोक्त पद्धति से जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति के स्तरों पर प्रत्येक पिण्ड चैतन्य की दृष्टि से समझाते हुए, उपनिषद्कार ने अन्ततः उस चतुर्थ पाद की ओर इङ्गित किया है जो उन तीनों से परे समष्टिरूप ब्रह्माण्डात्मा प्रपञ्चशून्य, शुद्ध, बुद्ध एवं शान्त चैतन्य है तथा वस्तुतः उपनिषद् का परम प्रतिपाद्य है।

यहाँ यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि उक्त चर्चा में चेतना की तीन दशाओं का सङ्केत तो किया गया किन्तु प्रथमतः निर्दिष्ट ओङ्कार का व्याख्यान तो हुआ ही नहीं। इसलिए अब अगले चार मन्त्रों में चेतना के इन चारों पादों की सङ्गति क्रमशः ओङ्कार की तीन मात्राओं और चौथे 'अमात्र' पद से स्पष्ट की जा रही है, तद्यथा -

यदि ओङ्कार का अक्षर की दृष्टि से **'अध्यक्षरम्'** वर्णन किया जाये तो यह पूर्वोक्त आत्मा ओङ्कार है और पादरूप से विभाजन किया जाये तो

---

[४१] माण्डू., ७ पर शां.भा., पृष्ठ ४१

उसे **अधिमात्रम्** कह सकते हैं क्योंकि ऊपर जो आत्मा के पहले तीन पाद वर्णित किये गये हैं, वे ही ओङ्कार की तीन मात्रायें हैं- पहली मात्रा अकार, दूसरी मात्रा उकार तथा तीसरी मात्रा मकार।[५०]

तदनुसार 'ओ३म्' की पहली मात्रा 'अकार' है जो 'जागरितस्थान' तथा 'वैश्वानर' रूप में ऊपर वर्णित आत्मा के प्रथम पाद को सूचित करती है। यहाँ उपनिषद्कार द्वारा प्रस्तुत गौणी फलश्रुति की उद्घोषणा इस भाँति की जा रही है कि जो जिज्ञासु/ साधक ओङ्कार की इस प्रथमा मात्रा 'अ' को इस रूप में जानता है, वह अपनी सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है तथा सबके मध्य आदि-स्थान अर्थात् मुख्य स्थान का भाजन होता है।[५१] क्योंकि 'आप्नोति' इस क्रिया का आदि भी 'अकार' अक्षर से है तथा 'ओङ्कार' का आदि अक्षर भी 'अ' ही है। भाष्यकार शङ्कराचार्य ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि **'अकारो वै सर्वा वाक्'** (ऐ.आ., २/३/६) इस श्रुति के अनुसार अकार से समस्त वाणी व्याप्त है।[५२] भाव यह है कि जिस प्रकार अक्षरों में अकार नामक अक्षर आदिमान् है, उसी प्रकार आत्मा के चार पादों में वैश्वानर आदिमान् है, अतः इसी समानता के कारण वैश्वानर को अकाररूप कहा गया है।

आत्मा के द्वितीय पाद ओङ्कार की द्वितीय मात्रा 'उकार' है जो स्वप्नस्थान तैजस चैतन्य की सूचक है। यदि यह जिज्ञासा हो कि 'उकार' तथा 'तेजस' में क्या साम्य है तो उसका समाधान उपनिषद्कार ने यह कहकर दिया है कि जिस प्रकार उकार अकार की अपेक्षा उत्कृष्ट है उसी

---

[५०] माण्डू., ८

[५१] वही, ९

[५२] माण्डू., ९ पर शां.भा., पृष्ठ ५३-५४

भाँति तैजस चैतन्य वैश्वानर की अपेक्षा उत्कृष्ट है, अतः उत्कर्ष के कारण इन दोनों की समानता है। ओ३म् की इस द्वितीय मात्रा उकार के ज्ञान का फल क्या होता है, इस पर श्रुति-वचन है कि जो व्यक्ति इस ज्ञान को पा लेता है, वह अपनी ज्ञान-परम्परा का विस्तार करता है तथा सबके प्रति समान भाव वाला होने से **`उभय-स्थिति'** प्राप्त करता है अर्थात् विवादास्पद स्थिति की सम्भावना होने पर दोनों पक्षों में समान आदर प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त, ओ३म् की द्वितीय मात्रा को इस रूप में जानने वाले व्यक्ति के कुल में कोई 'अब्रह्मवित्' ब्रह्म को न जानने वाला नहीं होता,[५३] अर्थात् वह अपनी समस्त कुल-परम्परा को भी ज्ञानी बनाने में सक्षम होता है।

'सुषुप्तस्थान' वाले 'प्राज्ञ' चैतन्य की प्रतिनिधि ओ३म् की तृतीय मात्रा 'मकार' को कहा गया है। यदि यहाँ पूजा जाये कि इन दोनों में क्या साम्य है तो आचार्य का उत्तर होगा कि प्रथमतः **'मिति'** यानि मान (=परिमाण, माप) ही प्राज्ञ और मकार के मध्य समानता का आधार है। तात्पर्य है कि जो जिज्ञासु सुषुप्तस्थान वाले उस 'प्राज्ञ' चैतन्य को भलीभाँति जान लेता है, वह मानो सम्पूर्ण विश्व को माप लेता है। **'मिति'** का विच्छेद **'म्+इति'** भी किया जा सकता है अर्थात् जैसे **'म्'** स्पर्श व्यञ्जनों में अन्तिम वर्ण है, वैसे ही सुषुप्ति पिण्ड-चैतन्य के अहम्भाव की 'इति' अर्थात् अन्तिम अवस्था है। अतः जो कोई इस रूप में ओ३म् की तृतीया मात्रा 'मकार' की उपासना करता है, वह मानों सम्पूर्ण संसार की थाह प्राप्त कर लेता है,[५४] यह आशय है।

---

[५३] माण्डू., १०

[५४] वहीं, ११

भाष्यकार शङ्कराचार्य यहाँ 'मिति' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जित प्रकार प्रस्थ (एक प्रकार का माप, वाट) से जौ तौले जाते हैं, उसी प्रकार प्रलय और उत्पत्ति के समय मानो प्रवेश और निर्गमन के द्वारा प्राज्ञ से विश्व और तेजस मापे जाते हैं क्योंकि ओङ्कार की समाप्ति पर उसका पुनः प्रयोग किये जाने पर मानों अकार और उकार मकार में प्रवेश करके उससे पुनः निकलते हैं।[५५]

माण्डूक्योपनिषद्कार के अनुसार प्राज्ञ चैतन्य और ओङ्कार की तृतीया मात्रा 'मकार' में एक और दृष्टि से भी समानता है- **'अपीतेर्वा'**[५६]। शङ्कर के अनुसार- **'अपीति'** का अर्थ है अप्यय या एकीभाव। जिस भाँति ओ३म् का उच्चारण करने पर अकार और उकार अन्तिम अक्षर मकार में लीन से हो जाते हैं, उसी भाँति सुषुप्त-अवस्था में विश्व और तैजस प्राज्ञ में लीन से हो जाते हैं।[५७] 'अपीति' (अति+इति) की व्याख्या इस भाँति भी की जा सकती है कि उक्त रीति से ओङ्कार को जान लेने पर सब विषयों की, दुःखों की तथा अज्ञान की भी समाप्ति हो जाती है।

अतः **'अध्यक्षर'** एवं **'अधिमात्र'** रूप से आत्मा की तीन दशाओं तथा ओ३म् की तीन मात्राओं की समकक्षता वर्णित करने के उपरान्त ऋषि अपने समापन-वाक्य में उपनिषद् के परम प्रतिपाद्य का सङ्केत करने के साथ-साथ प्रधान फलश्रुति का निर्देश भी करते हैं। तदनुसार ओ३म् की पूर्वोक्त तीन मात्राओं से परे जो 'अमात्र' या मात्रारहित ओङ्कार है, वह चतुर्थ है। इसी भाँति जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति दशाओं से परे चेतना की जो चतुर्थ स्थिति है, उसका रूप व्यवहार में नहीं बताया जा सकता,

---

[५५] माण्डू., ११ पर शां.भा., पृष्ठ ५६

[५६] माण्डू., ११

[५७] वही, पृष्ठ ५६-५७

उसके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि वह शिव है, अद्वैत है तथा वहाँ संसार के समस्त प्रपञ्च का उपशमन हो जाता है। ओङ्कार का यह अमात्र[५८] रूप वस्तुतः आत्मा ही है तथा वह प्रपञ्च की शान्तिरूप है, मङ्गलमय और अद्वैतस्वरूप है। अतः जो कोई साधक ओङ्कार को इस रूप में आत्मा ही समझ लेता है, वह आत्मज्ञान के द्वारा अन्तरात्मा में प्रवेश करता है[५९] तथा बाहर के विषयों की ओर भटकता नहीं है।

उक्त रीति से माण्डूक्योपनिषद् के आधार पर कहा जा सकता है कि ओङ्कार अक्षर ही यह सब बाह्य जगत् है; त्रिकालनियत एवं कालातीन सब घटनायें तथा अवस्थायें उसी ओङ्कार का व्याख्यान है। आध्यात्मिक दृष्टि से ओङ्काररूप अक्षर ब्रह्म है तथा यह आत्मा ब्रह्म है। वह ब्रह्माण्डव्यापी ब्रह्म तथा यह पिण्डव्याप्त आत्मा चार पादों वाला है। आत्मा के चार पाद तथा ओङ्कार के चार रूपों में परस्पर साम्य एवं सङ्गति है- जो कोई इस रहस्य को जान लेता है वह आत्मज्ञानी परमज्ञानी हो जाता है, उसके लिए गौणफल एवं प्रधानफल - सब सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि उसे और कुछ जानना या माँगना शेष नहीं रहता।

माण्डूक्योपनिषद् के द्वादश संक्षिप्त सूत्रात्मक वचनों में अन्तर्निहित गहन आध्यात्मिक सत्य का सीमित आकलन करने पर

---

[५८] उल्लेखनीय है कि आचार्य गौड़पाद ने इस अमात्र पद की व्याख्या करते हुए 'अनन्तमात्र' विशेषण का भी प्रयोग किया है-

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।

ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः॥ माण्डू. का. २९

अर्थात् जिसने मात्राहीन, अनन्त मात्रा वाले, द्वैत के उपशम स्थान और मङ्गलमय ओङ्कार को जाना है, वही मुनि है, और कोई व्यक्ति नहीं।

[५९] माण्डू., १२

सुस्पष्ट है कि इसकी मौलिकता चैतन्य की चार दशाओं का निरूपण एवं ओङ्कार की चार मात्राओं से उसका समञ्जन करने में स्वतःसिद्ध है। किन्तु इस स्वल्पकाय उपनिषद् का माहात्म्य इसकी निरूपण-पद्धति में भी निहित है जो प्रधानतः सूत्रपरक है तथा कम से कम शब्दों में गहन से गहन विषय का निरूपण करने का विलक्षण प्रयास है। इसलिए यह कथन समीचीन है कि "माण्डूक्योपनिषद् में सूत्र-पद्धति का अनुशीलन किया गया है जिसके आदर्श पर परवर्ती दर्शन-पद्धतियों के सूत्र-साहित्य की सृष्टि हुई। इस पद्धति की विशेषता यह है कि यह समस्त विचार-तत्त्व को एक छोटे से भावपूर्ण वाक्य में सङ्गठित कर देती है तथा भाष्यकार को उसके अर्थनिरूपण के समय भलीप्रकार सर खुलजाने के लिए छोड़ देती है।"[६०]

उल्लेखनीय है कि माण्डूक्योपनिषद् में नवम से एकादश वचनपर्यन्त व्युत्पत्ति-पद्धति का भी आश्रय लिया गया है।[६१] इसके अतिरिक्त माण्डूक्योपनिषद् के सातवें कथन में दशाधिक बार निषेध के द्वारा आत्मा के चतुर्थ पाद को समझाने की जो चेष्टा की गयी है, वह भी भारतीय विचार-प्रणाली का एक अभिन्न अङ्ग है।[६२] इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषदों में इस निषेधपरक शैली का भी प्रचुर प्रयोग किया गया है।

---

[६०] रानाडे, आर.डी., उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृष्ठ २६

[६१] वही

[६२] प्रख्यात जापानी विद्वान् हाजीमे नाकामुरा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द वेज़ ऑफ थिंकिंग ऑफ ईस्टर्न पीपुल (न्यूयार्क से १९६० में प्रकाशित) में पृष्ठ १७-१५९ पर इस विषय में विस्तार से प्रकाश डाला है।

शतपथब्राह्मणे ब्रह्मचारिधर्मः

प्रो. विश्वनाथस्वाईँ[१]

ओ३म् “राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे॥” इति ब्रह्मोपासनपरो[२] मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः।
"आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्कराजम्।
यथेह पुरुषोऽसत्॥” इति ब्रह्मभावनावान्[३] वामदेवः।
“सा संस्कृतिर्विश्ववारा” इति संस्कृतिविज्ञाता[४] अवत्सारः काश्यपः।
"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति॥"
इति च धर्ममर्मप्रणेत्री शाश्वती[५] श्रुतिः।

पूर्वाभासः -

अथात्र भौतिकभोगभोगाय[६] जनजीवनम्। सार्थनिरर्थदेशोपसर्पिषु

---

[१] **लब्धावसरः प्राचार्यः**, सम्पादकश्च **"प्राचीसुधा" संस्कृतशोधपत्रिका**

[२] ऋग्वेदः - १.१.८।

[३] शुक्लयजुर्वेदः - २.३३।

[४] स एव - ७.१४।

[५] तैत्तिरीयारण्यकम् - १०.६३.७।

[६] श्रीमद्भागवतम् - ११.३.६।

जनेषु[७] मनुष्यः श्रेष्ठः। मरणशीलस्य[८] रज:प्रधानस्य एतस्यापि स्वभावतो[९] बहुकामनाः। देहवृद्धिदशातः आरभ्य एतल्लक्षणपरो[१०] मनुपुत्रः। विचित्रव्यसने[११] संसारेऽस्मिन्नेषः क्रमशो विपर्यस्तमना अशान्तो भीतस्त्रस्तश्च। नश्वरं क्षणभङ्गर दुर्लभं च[१२] मनुष्यशरीरं धर्मपूतं चेत् तर्हि सदानन्दशाश्वतशान्तिप्राप्तये अनुकूलं साधनम्। सकलजड़चेतनपदार्थेषु यस्याः शक्तेर्भावात् पदार्थस्य सत्ता स्यात्, यस्याः शक्तेरभावात् पदार्थस्य सत्ता न स्यात् अस्याः शक्तेर्नाम धर्म इति। अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिकारणं[१३] धर्मः। अतो धर्मशब्दः प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मककर्त्तव्यतावचनः[१४]। नित्यमाचारणीयोऽयं धर्मः त्रिधा विभक्तः - सामान्यधर्मः, विशेषधर्मः, आपद्धर्मश्च। विशेषो धर्मो हि वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मश्चेत्यादिः। **आश्राम्यन्ति श्रेयोऽर्थिनः अस्मिन्निति** आश्रमः। आश्रमधर्मेषु ब्रह्मचर्याश्रमधर्मः अन्यतमः अनुत्तमश्च। ब्रह्म द्विरूपम् - अपरं परं चेति। अपरं ब्रह्म अविनाशि-शब्दराशिः वेदः सद्विद्या वा। परं ब्रह्म तु कल्याणगुणगणार्णवाभिधानं सर्वशक्ति। समयमूलतया वेदाधिगमार्थं यः चरति व्रतानि पालयति सः

---

[७] "बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः"इति मनुस्मृतिः - १.९६।

[८] "मनुष्यत्वं च राजसा:"इति स एव - १२.४०।

[९] "पुलुकामो हि मर्त्यः"इति ऋग्वेदः - १.१७९.५ ।

[१०] "सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना।
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः॥ "इति श्रीमद्भागवतम्।

[११] तदेव - ११.२.९।

[१२] तदेव - ११.२.२९।

[१३] वैशेषिकदर्शनम् - १.१.२।

[१४] मनुस्मृतिः - २.१।

ब्रह्मचारी इति कथ्यते।

शतपथब्राह्मणे ब्रह्मचारिधर्मः -

"आहवनीयश्च समिच्च तदेकं मिथुनम्" इति[१५] श्रुतिः। शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनशाखान्तर्गतशतपथब्राह्मणे ब्रह्मचारिधर्मउपदिष्टः। शरीरजन्मतो विद्याजन्म [१६]प्रशस्ततरम्। एतदर्थं यथाकालं यथाविधि उपनयनसंस्कारः समनुष्ठेयः। उपनीतो माणवको विद्यकर्मान्तं यावत् कर्त्तव्यतत्परे [१७]आचार्यकुले तिष्ठेत्। ब्रह्मचर्यं [१८]दीर्घकालिकसत्त्रम्। बृहद्व्रतधारी ब्रह्मचारी इति भौतिकभावनावान् [१९]भगवान्। अत्र आश्रमे उपनीतः सः अध्ययनाङ्गानि व्रतानि कर्त्तव्यानि नियमान् च चरेत्। नियमाश्च दैनन्दिनं क्रमशो यथा - शय्यात्यागः, सायम्प्रातःकृत्यम्, अध्ययनम्, भिक्षाचरणञ्चेत्यादयो भवन्ति। शय्यात्यागः -

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥"

इति जीवनोदयदर्शी[२०] विरूपः।

ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानमिति[२१] स्मृतिः। ज्ञानं विद्या। अरुणोदयात् पूर्वम् उषःकाल एव जीवनोदय-विद्याभ्यास विद्यासञ्चारकालः। अतस्ततः पूर्वं दीर्घसत्त्रिणा ब्रह्मचारिणा स्नानशौचादिकर्मसमापनार्थं शय्यात्यागः

---

[१५] शतपथब्राह्मणम् - ११.३.२.१।

[१६] मनुस्मृतिः - २.१४६, आपस्तम्वधर्मसूत्रम् - १.१.१७।

[१७] आपस्तम्वधर्मसूत्रम् - १.१.१३।

[१८] "दीर्घसत्त्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति।" इति शतपथब्राह्मणम् - ११.३.३.२।

[१९] श्रीमद्भागवतम् - ११.१७.३६।

[२०] शुक्लयजुर्वेदः - १३.४६।

[२१] अग्निपुराणम् - ३७२.१।

कर्त्तव्यः। अन्यथा यथाकालमग्निकार्यादिकं तेन सम्पादितं न स्यात्। "**इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे**" इति [२२]श्रुतिः निरर्थकी स्यात्।[२३] "**व्रतमुपैती**"ति चापि तथैव। "**काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः**॥"इति[२४] स्मृतिश्चापि अनावश्यकी स्यात्।

समिधाधानम् -

"**वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि।**
अग्ने बृहन्तमध्वरे॥
उप त्वाग्ने हविष्मती घृताचीर्यन्तु हर्षत।
जुषस्व समिधो मम॥" इति लोकहितप्रवृत्तिः[२५] प्रजापतिः।
सृष्टिष्टिचक्रसम्पादने ब्रह्मचारिणो महत्त्वपूर्णं कर्त्तव्यं वर्त्तते।
सः सायम्प्रातः अग्नौ समिधाधानं कुर्यात्।
"अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥" इति[२६] श्रूयते।
"**उत नो ब्रह्मन्नविष उक्थेषु देवहूतमः॥**
शं नः शोचा मरुधोऽग्ने सहस्रसातमः॥
नू नो रास्व सहस्रवत् तोकवत् पुष्टिमद्वसु।
धूमदग्ने सुवीर्यं वर्षिष्ठमनुपक्षितम्॥"
इति वैश्वामित्र-ऋषभदर्शिता[२७] श्रुतिः।

---

[२२] शुक्लयजुर्वेदः - १.१।
[२३] शतपथब्राह्मणम् - १.१.१.६।
[२४] मनुस्मृतिः - २.२।
[२५] शुक्लयजुर्वेदः - २.४,३.४।
[२६] ऋग्वेदः - १.१.३।
[२७] स एव - ३.१३.६,७।

एताभ्यः श्रुतिभ्यः प्रतिदिनं सायम्प्रात: अग्निकार्यमुपदिष्टम्। अत्र समित् अपेक्ष्यते। समिदाहरणं ब्रह्मचारिणो दैनन्दिनं कर्त्तव्यं भवति। समिधाधानकार्य यथाकालं तेन ब्रह्मचारिणा समनुष्ठितं न भवेच्चेत् तस्य मृत्युर्भवतीति श्रुतितो ज्ञायते।[२८] तद्वचनं यथा -

"**ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत्। तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत् सोऽब्रवीदस्तु मह्यमप्येतस्मिन् भाग इति यामेव रात्रिं समिधं नाहरता इति तस्माद्यां रात्रिं ब्रह्मचारी समिधं नाहरत्यायुष एव तामवदाय वसति तस्मात् ब्रह्मचारी समिधमाहरेन्नादायुषोऽवदाय वसानीति॥**"

चतुर्धा भूतानि प्रविशति। अग्निं पदा मृत्यु पदाऽऽचार्य पदाऽत्मन्येवास्य चतुर्थः पादः परिशिष्यते॥ स यदग्नये समिधमाहरति। य एवास्याग्नौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्यात्मन्धत्ते स एनमाविशति॥" इति। अग्नित्रयान्तर्गत[२९] आहवनीयस्थानीयो शिष्यस्तु समिद्रूपो भवति। सूर्योदयात्पूर्वं सूर्यास्तमनवेलायाञ्च अग्निकार्यार्थम् अनयोरुभयोः सम्मेलनम् एकाकिनो ब्रह्मचारिणः वा अग्निकार्यं विश्वकल्याणकारणं भवति।

अध्ययनम् -

"**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**" इति[३०] श्रूयते। स्वाध्यायो नाम स्ववेदशाखाध्ययनम्। अत्र च अध्ययनं स्ववेदाभ्यासः। वेदश्च सद्विद्या भवति। वेदाभ्यासात् भूतात्मा प्रफुल्लित: भवति-

---

[२८] शतपथब्राह्मणम् - ११.३.३.१,३,४।

[२९] मनुस्मृतिः - २.२३१।

[३०] शतपथब्राह्मणम् - ११.५.७.२।

"विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति[३१]" इति स्मृतेः।

अध्ययने गुरुः भवति आहवनीयः अग्निः। शिष्यः स्वात्मानं तच्चरणेषु निवेदयित्वा स्वकीयां विद्यामधिगन्तुं प्रयतते। यदि अध्ययनं सततं निवच्छिन्नभावेन न स्यात् तर्हि मानसं जपः यत् खलु भगवता श्रीकृष्णेन उररीकृतं तत् सम्पादितं न स्यात्। स्वाध्यायाध्ययनं यथामति गुरुकुले विराजितस्य ब्रह्मचारिणः परमो धर्मो भवति। अध्ययनमध्यापनञ्च सम्यक्तया प्रचलतु इति दर्शयितुं श्रुतिः [३२] यथा -

"**अथातः स्वाध्यायप्रशंसा। प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्वपराधिनो अहरह अर्थान् साधयते सुखं स्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञाबुद्धिर्यशो लोकपक्तिं प्रज्ञावर्धमाना चतुरोधर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति। ब्राह्मण्यं प्रति उपचर्यां यशो लोकपक्तिं लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चायेयतया चावध्यतया च॥** इत्यादि वस्तुतः यदि अध्ययनं ब्रह्मचर्यदशायां न क्रियते तर्हि माणवकः न केवलं विपथगामी न वा अपरस्य प्रतिकूलतासाधनाय प्रवर्त्तते अपितु सर्वतोभावेन सर्वत्र दुःखाशान्तिकारणं भवति। ब्रह्मचर्यदशायां ब्रह्मचारी गुरोः हितमवश्यं कुर्यात्। यदि कदाचित् गुरोः हृदयं पीड़यति तर्हि तस्य कदाचिदपि मङ्गलं न भवति। आचार्यवचस्करः स एव विद्यार्थी भवितव्यः। श्रूयते यथा -

"**अथ यदाचार्यवचसं करोति। यदाचार्याय कर्म करोति। य एवास्याचार्ये पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति। तं संस्कृत्यात्मन्धत्ते स एनमाविशति॥**[३३] "इति।

---

[३१] मनुस्मृतिः - ५.१०९, वशिष्ठधर्मशास्त्रम् - ३.६०।

[३२] शतपथब्राह्मणम् - ११.५.७.१।

[३३] तदेव - ११.३.३.६।

भिक्षायाचनम् -

ब्रह्मचारिधर्मेषु भिक्षायाचनमन्यतमम्। अहंभाविन: माणवकस्य विनम्रतासाधनार्थं गुरुकुलस्य परिचालनार्थं च यत् खलु सात्त्विकमन्नमपेक्ष्यते तत्तु भिक्षामाध्यमेन सम्पादनीयं भवति। गुरूपदिष्टोऽयं मार्गः वैदिककालात् प्रवर्त्तते। गुरोः आचार्यस्य वा अन्नसंस्थाननिमित्तं शिष्यस्य ब्रह्मचारिण: दायित्वमपि वर्त्तते। अत: स: कैशोरदशायां ब्रह्मचर्यं यदा स्वीकरोति तदा ब्रह्मचर्यजीवनसमाप्तिं यावत् सात्त्विकेभ्य: भिक्षायाचनं कुर्यात्। तच्च भैक्ष्यं हविष्यान्नं भवति। गुरुः आचार्यः वा तत्र देवता[३४] भवति। एतच्चापि वैदिकवाङ्मये परिलक्ष्यते। ब्रह्मचारी आत्मानं दरिद्रीकृत्य एवं स्थानानि गच्छेत् यत्र च सात्त्विकभावेन भिक्षायाचनं कुर्यात् तत् खलु शतपथब्राह्मणे श्रूयते यथा -

"**अथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्यैव। अह्रीभूत्वा भिक्षते य एवास्य मृत्यौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्यात्मन्धत्ते स एनमाविशति॥**[३५]" इति।

उपसंहारः

विद्या पवित्रा आनन्दमयी तदा सफला भवति यदा साधु: आचार्यः साधुश्च शिष्यः दृग्गोचरीभूतौ स्याताम्। किन्तु समाजपक्षत: तयोः कृतेऽपि अनुकूलं वातावरणं यदि व्यवस्थापितं स्यात् तर्हि वैदिकीशिक्षापद्धति: समादृता स्यात्। विद्याशिक्षा न केवलमरण्ये न वा नदीतीरे न वा जनमानवहीने समाजविहीने गुरुकुले स्यात् अपितु सर्वत्रापि अनुकूलं वातावरणं प्राप्य प्रवर्तेत। गुरुजनानां विशेषत: आचार्याणां

[३४] "भैक्षं हविषा संस्तुतं तत्राचार्यो देवतार्थे॥" इति। आपस्तम्बधर्मसूत्रम् - १.१.३.४३।

[३५] शतपथब्राह्मणम् - ११.३.३.५।

विद्याभ्यासनिमित्तं यदि सात्त्विकभावसम्पन्नैः अस्माभिः प्रयत्न: क्रियेत तर्हि शिष्याणामाचार्याणां च मङ्गलं स्यात्, विद्या साधिष्ठा स्यात्, सर्वत्र ब्राह्मी स्थितिः विराजिता स्यात्। विद्यामहत्त्वं ज्ञात्वा ब्रह्मचर्यजीवनयापनार्थं समाजपक्षत: यथाकालं व्यवस्था यदि अधुनातनकाले स्यात् तर्हि नूनं सर्वत्र शाश्वती शान्तिः विराजेत। तदेवं ब्रह्मचारिधर्म: वैदिकवाङ्मये विशेषत: शतपथब्राह्मणे पर्यालोचितः वर्तते इति।

अयमिह सारसंग्रहः -

१. ब्रह्मचारिधर्मः सर्ववैरत्यागाय भवति।

२. ब्रह्मचर्यं मानवसमाजं सबलं प्रफुल्लितं सर्वदा साधयति।

३. क्रियामूलत्वात् ब्रह्मचर्यं सर्वैरेव आश्रयणीयम्।

४. ब्रह्मचर्याश्रमधर्मानुपालनात् परब्रह्मप्राप्तिः सम्भवति।

५. ब्रह्मचर्यं परमं धनं ब्रह्मचर्याश्रमधर्मश्च सर्वकल्याणकर: इति।

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ इति ओ३म्॥

शतपथ ब्राह्मण की प्रतीकात्मक एवं लोकोपकारी दृष्टि

डॉ. राकेश शास्त्री[१]

वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण ग्रन्थ वेद व्याख्या में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसका कारण है कि जिस प्रकार वेदों के संहिता भाग भारतीय-संस्कृति में प्रमाण रूप में स्वीकार किए जाते हैं, ठीक उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ भी स्वतः प्रमाण रूप माने गए हैं। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थों में की गयी वेद मन्त्रों की व्याख्या पद्धति अत्यधिक उत्कृष्ट और अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से परिपूरित है। यही कारण है कि मूल वेदों के अर्थों को समझने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रसङ्ग में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अभिप्राय को समझने के लिए यहाँ प्रयुक्त अर्थों की प्रतीकात्मकता तथा अनेकानेक पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को समझना नितान्त अनिवार्य है, क्योंकि प्राचीन काल में कोई भी विद्वान् अपने शास्त्र को प्रभावी एवं रहस्यात्मक बनाने के लिए पारिभाषिक संज्ञाओं के निर्माण के अनन्तर ही

---

[१] **१-जे-३८, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, बांसवाड़ा (राज.) ३२७००१**

अपने-अपने शास्त्र की निर्मिति करता रहा है। उदाहरण के लिए व्याकरण शास्त्र को ही ले लें, यहाँ गुण, वृद्धि, प्रगृह्य, घु, टि आदि संज्ञाएँ अपना विशिष्ट अर्थ रखती हैं, जिनके आर्थिक परिप्रेक्ष्य में ही हम व्याकरण शास्त्र की आत्मा तक पहुँच सकते हैं।[२]

कहने का अभिप्राय यही है कि शुक्ल यजर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व शाखाओं में उपलब्ध यागानुष्ठान का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण भी इस प्रकार के अनेकानेक परिभाषिक शब्दों एवं प्रतीकात्मकता का अथाह भण्डार है। इनके अभिप्राय को समझने के बाद ही हम यहाँ प्रयुक्त होने वाले आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थों तक पहुँचकर ग्रन्थकार के अभिप्राय को, उसकी लोकोपकारी दृष्टि एवं राष्ट्रीय भावना को समझने अथवा जानने में समर्थ हो सकते हैं।

उल्लेखनीय यह भी है कि शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकारों की इन तीनों अर्थों तक पहुँचने में महती भूमिका रही है, जो वस्तुतः श्लाघनीय होने के साथ-साथ सम्पूर्ण मानवता पर उपकार स्वरूप है। इस विषय में ध्यातव्य है कि वैदिक साहित्य के महान् विद्वान् स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती (पण्डित बुद्धदेव विद्यालङ्कार) द्वारा प्रणीत शतपथ ब्राह्मण का हिन्दी भाष्य इस सम्बन्ध में विशेष रूप से प्रशस्य है, जिसका प्रकाशन स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ द्वारा १९९५ में किया गया। इसके अन्तर्गत यहाँ प्रयुक्त अनेक गूढ़ अर्थों को उद्घाटित किया गया है, इससे शतपथ ब्राह्मण की आत्मा तक पहुँचने में जिज्ञासु पाठकों को अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई है। प्रस्तुत आलेख में सर्वप्रथम हम इसी

---

[२] शतपथ ब्राह्मण सामर्पण भाष्य, स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती, प्रकाशक-स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ १९९५। अपनी बात, पृष्ठ -३

भाष्य के आधार पर ऐसे कुछ पारिभाषिक शब्दों के अर्थों की ओर सङ्केत करेंगे, जिन्हें समझने पर हमें शतपथ ब्राह्मण की लोकोपकारी दृष्टि स्वतः ही स्पष्ट हो जाएगी।

जैसा कि हम पूर्व में ही उल्लेख कर चुके हैं कि सम्पूर्ण शतपथ में वस्तुतः याज्ञिक क्रियाओं का विस्तारपूर्वक एवं सूक्ष्म रूप से प्रयोग बताया गया है, क्योंकि इसमें दर्श पौर्णमास, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, सोम याग, वाजपेय याग, राजसूय यज्ञ तथा अश्वमेधादि यागों की विधि का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इन सभी के पीछे भी ग्रन्थकार की लोकोपकारी दृष्टि ही मुख्य रूप से रही है।

ध्यातव्य है कि यहाँ प्रयुक्त 'अग्नि' का अभिप्राय केवल यज्ञ की अग्नि न होकर विद्वान् भी रहा है। इसी प्रकार यज्ञ शब्द का अर्थ केवल कर्मकाण्ड न होकर कर्म तथा सङ्गठित समारम्भ (Organised activity) भी लिया गया है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म शब्द वेद और परमात्मा दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है तथा स्वः शब्द यज्ञ, दिन, स्वर्ग, देव, सूर्य आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जबकि वृत्र को यहाँ राक्षस के साथ-साथ व्यक्तियों के ऐश्वर्य और कल्याणकारी शुभकार्यों से दूर करने वाला पाप भी कहा गया गया है। इसी प्रकार इन्द्र, ऐश्वर्य का नाम है तथा इन्द्र का शत्रु ''भोग'' है, जो ऐश्वर्य को नष्ट करने वाला है।

इन्हीं सब अर्थों तथा कुछ अन्य आशयों के परिप्रेक्ष्य में जब हम शतपथ के अर्थों की, इसकी याज्ञिक क्रियाओं की व्याख्या का अवलोकन करते हैं, तो हमें यह ग्रन्थ लोकोपकारी दृष्टि से ओतप्रोत दृष्टिगोचर होता है। जैसे-

१. वैदिक मान्यता सन्तान उत्पन्न करने को राष्ट्र कर्म की श्रेणी में रखने की पक्षधर है। इसीलिए यहाँ सन्तति सम्पूर्ण मानवता किंवा राष्ट्र के लिए उपहार स्वरूप मानी गयी है। इतना ही नहीं, यहाँ तो व्यक्ति का वीर्य भी राष्ट्र की धरोहर है। इसी में उत्तम सन्तान रूप पूर्ण चन्द्र का उदय होता है, जिसके पीछे ग्रन्थकार की लोककल्याणकारी दृष्टि एवं परोपकार भावना को ही प्रमुख माना जा सकता है।

२. शतपथ की लोककल्याणकारी दृष्टि की पुष्टि ग्रन्थकार के निम्न कथ्य से भी होती है, जहाँ वह कहता है कि -

अथाऽभिमृशति। 'भूताय त्त्वा नारातय' ऽइति।[३]

यहाँ वक्ता हवि का स्पर्श करते हुए वाक्य पढता है- '**भूताय त्त्वा नारातये**' अर्थात् तुझे हम प्राणिमात्र के उपकार के लिए ग्रहण करते हैं, न कि अदान के लिए, जिसे शतपथ की लोक कल्याणकारी भावना का ही परिचायक कहा जा सकता है।

३. इसी क्रम में हम शतपथ के प्रथम काण्ड के प्रथम अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में प्रयुक्त प्रथम मन्त्र को भी प्रस्तुत कर सकते हैं, जहाँ "**प्रत्येक स्त्री जो उत्तम सन्तान उत्पन्न करती है, वह राष्ट्र का, यज्ञ का, विष्णु का कार्य कर रही है।**[४]" इसलिए उसकी सुरक्षा केवल परिवार के सदस्यों पर न छोड़कर उसकी संरक्षा का दायित्व राष्ट्र का है, जिसे शतपथ की लोककल्याणकारी दृष्टि के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उल्लेखनीय यह भी है कि यहाँ प्रयुक्त यज्ञ शब्द को भाष्यकार

---

[३] शतपथ ब्राह्मण- १/१/२/२०

[४] पवित्रे करोति। पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति यज्ञो वे विष्णु र्यज्ञिये स्थ इत्येवैतदाह। श.ब्रा. - १/१/३/१

द्वारा ''**संगठन**[५]'' के अर्थ में प्रयुक्त मानकर अर्थ किया गया है।

४. इसके अलावा यहाँ हमें यद्यपि स्थूल दृष्टि से याज्ञिक क्रियाओं का ही उल्लेख देखने को मिलता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से यज्ञ शब्द का विस्तृत अर्थ करने पर हमें यहाँ इसी से शिक्षा, समाज एवं राजनीति आदि गहन अर्थों की प्रतीति भी होती है, जिसमें सर्वत्र जन-कल्याण एवं परोपकार की भावना ही निहित रही है। जिसे शतपथकार ने अत्यन्त सीधी-सादी क्रियाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति की है।

५. इसी क्रम में यह भी उल्लेखनीय है कि शतपथ में सभी याज्ञिक क्रियाओं को देवताओं को लक्ष्य करके किए जाने का उल्लेख पद-पद पर हुआ है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में देव शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे-

(क) यहाँ इसे सूर्य, चन्द्र, वायु आदि के लिए प्रयुक्त किया गया है।[६]

(ख) अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण दोनों ही यजमान को भी 'देव' की श्रेणी में रखते हैं-

यो दीयते स देवता नामेको भवति।[७]

मुग्धा देवा उत शुना यजन्त।[८]

(ग) इसी प्रकार लोक कल्याणकारी राजा को भी सामान्यतया

---

[५] शतपथ ब्राह्मण सामर्पण भाष्य, स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती, प्रकाशक-स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ, १९९५। पृष्ठ -४१

[६] अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता। यजुर्वेद -१४/२०

[७] शतपथ- ३/१/१/८

[८] अथर्व -७/५/५

'देव' के रूप में ही सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में वर्णित किया गया है, क्योंकि वह दिव्य गुणों से युक्त होता है। सभी संस्कृत नाटकों में राजा के लिए सम्बोधन रूप में इस शब्द का प्रयोग मिलता है।[९]

(घ) इसके अलावा यहाँ ब्राह्मण को भी देव की कोटि में रखा गया है, क्योंकि वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि अन्य सभी वर्णों का मार्गदर्शक एवं उनका कल्याण करने वाला है-

ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।[१०]

(ङ) इसके अतिरिक्त देव शब्द का अर्थ यहाँ दिव्य भाव अथवा दिव्य गुण विशिष्ट विद्वान् भी देखने को मिलता है।[११]

वस्तुस्थिति तो यह है कि देव शब्द के सभी अर्थों में लोककल्याणकारी भाव ही निहित रहा है, क्योंकि तभी वह गुण इसे दिव्यता प्रदान करता है।

इस दृष्टि से भी हम शतपथ ब्राह्मण में सर्वत्र ही लोककल्याणकारी दृष्टि का ही अवलोकन कर सकते हैं। इसी प्रसङ्ग में यह भी कथनीय है कि विद्वानों ने तो मानव जीवन की प्रत्येक क्रिया किंवा चिन्तन को राक्षसत्व की श्रेणी में रखा है, किन्तु यदि वह अपनी सभी क्रियाओं व चिन्तन में लोकोपकार एवं कल्याणकारी भाव को सम्मिलित कर लेता है तो वही व्यक्ति हमारे समाज में देवता की श्रेणी में परिगणित हो जाता

---

[९] कञ्चुकी- यदाज्ञापयति देवः। अभिज्ञान शाकुन्तलम्, महाकवि कालिदास, अङ्क- षृष्ठ, श्लोक ८ से पूर्व कंचुकी का कथन

[१०] शतपथ - २/२/२/६

[११] शतपथ ब्राह्मण सामर्पण भाष्य, स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती, प्रकाशक-स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ, १९९५। पृष्ठ -२००

है। दूसरे शब्दों में देवों के समान पूजनीय हो जाता है। इसलिए भी देवों की पूजा करने वाले शतपथ में लोककल्याणकारी भाव के ही दर्शन होते हैं।

६. इसी प्रकार यह भी कथनीय है कि शतपथ ब्राह्मण में व्रत धारण करने वाले व्यक्ति को भी देवों की श्रेणी में रखा है-

गार्हपत्यागारे वा देवान्वा ऽएष ऽउपावर्त्तते यो व्रतमुपैति स यानेवोपावर्त्तते।[१२]

७. इसके अलावा यही शतपथ ब्राह्मण को समाज की स्त्रियों को अत्युच्च शैक्षिक एवं सामाजिक स्थिति में वर्णित करने के कारण अपनी लोककल्याणकारी दृष्टि के लिए उद्धृत किया जा सकता है, क्योंकि ये जब तक प्रणीता अर्थात् सुशिक्षित स्त्रियाँ, भगिनी, माता, पत्नी आदि के रूप में यज्ञ में सम्मिलित होकर यज्ञ रूप सङ्कल्प की साक्षी नहीं बनती हैं, तब तक व्यक्ति परमेश्वर से विमुख ही रहता है।[१३] दूसरे शब्दों में उसकी सभी याज्ञिक-क्रियाएँ निष्फल होती हैं, जिसके कारण उसे देवत्व की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। स्त्रियों के प्रति इस प्रकार की उच्च भावना ग्रन्थकार के लोककल्याणकारी भाव की ही परिचायक है।

८. इसी प्रकार यहाँ '**विराट् वै यज्ञः**' की व्याख्या भी इसे लोककल्याणकारी भावनाओं से ओतप्रोत सिद्ध करती है, जिसमें कोई अकेला 'राट्' न हो, किन्तु सभी मिलकर विशेषेण राट् हों जाएँ अर्थात् उसका प्रत्येक पात्र इतना अधिक निःस्वार्थ भाव से सामूहिक रूप से

---

[१२] शतपथ-१/१/१/११

[१३] शतपथ ब्राह्मण सामर्पण भाष्य, स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती, प्रकाशक-स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ १९९५। पृष्ठ -१४

योग-क्षेम के लिए आत्मसमर्पण करने वाला हो कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को राजा तथा प्रजा दोनों ही समझे। इस प्रकार की उच्चकोटि की लोककल्याणमयी दृष्टि ही हमें शतपथ के ऋषि की यहाँ देखने को मिलती है। सम्भवतः शतपथ के इसी भाव को महाभारतकार ने इन शब्दों में अभिव्यक्ति प्रदान की है-

नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥[१४]

९. दूसरे शब्दों में यही कहा जा सकता है कि शतपथकार की सम्मति में यज्ञ भावना की पराकाष्ठा वाला विराट् ही प्रशस्य है, क्योंकि यहाँ आपस में उपकारकता अर्थात् उपकार का भाव ही सर्वत्र निहित रहा है। यही कारण है कि अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजातान्त्रिक अर्थात् लोककल्याणकारी राज्य को '**विराट् संज्ञा**[१५]' प्रदान की गयी है।

१०. इसी क्रम में यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि दर्शपौर्णमास याग के प्रकरण में ग्रन्थकार ने '**द्वन्द्वं वै वीर्यं यद्वा वै द्वौ संरभेते**'[१६] का उल्लेख किया है, जहाँ स्त्री-पुरुष रूप द्वन्द्व को अर्थात् युगल को एक दूसरे के लिए तथा उन दोनों को परम यज्ञ अर्थात् ब्रह्म राष्ट्र के लिए उपकारक बनने की बात कहकर अपनी लोककल्याणकारी भावना को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है। तभी तो हमारी सन्तान का यहाँ लोककल्याणकारी एवं सर्वगुण सम्पन्न होना बताया गया है। स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती ने इसे **द्वन्द्व वीर्यम्** की प्रतीकात्मक

---

[१४] महाभारत शान्तिपर्व - ५९/१४

[१५] शतपथ ब्राह्मण सामर्पण भाष्य, स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती, प्रकाशक-स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ १९९५। पृष्ठ -२०

[१६] शतपथ- १/१/१/२२

अभिव्यक्ति माना है।[१७]

११. इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में प्रथम काण्ड के प्रथम अध्याय में द्वितीय ब्राह्मण के आरम्भ में 'शूर्प' का प्रयोग ग्रन्थकार ने 'विवेक' के लिए किया है। जिस प्रकार शूर्प अन्न से तुष् (भूसी) को निकाल कर उसे शुद्धता प्रदान करता है, उसी प्रकार व्यक्ति का विवेक उसे उचित-अनुचित का अन्तर बताकर लोककल्याणकारी भाव को प्राथमिकता देते हुए कार्य करने के लिए प्रेरित करता है।

१२. इसके अलावा यह भी उल्लेखनीय है कि शतपथ में पुरुष को विवेक का तथा पत्नी को जिज्ञासा का प्रतिनिधि माना गया है[१८] तथा घी, दूध को सत्य के प्रतिरूप में स्वीकारा है-

सत्यमाज्यम्।[१९]

क्योंकि घी का मूल दूध अपने प्राथमिक रूप से ज्ञान स्वरूप ही है तथा दूध से निकाला गया घी तो प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान स्वरूप दूध का सार है ही। इसीलिए तो वह सत्य है[२०] और व्यक्ति का विवेक सदा ही सम्पूर्ण मानवता के हितसाधन का पक्षधर ही रहता है।

१३. इसके अतिरिक्त शतपथ के अनुसार अग्निहोत्र में घी और दूध का प्रयोग इसी कारण किया जाता है, क्योंकि इन्द्रियों से जो ज्ञान

---

[१७] शतपथ ब्राह्मण सामर्पण भाष्य, स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती, प्रकाशक-स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ १९९५। पृष्ठ -२०

[१८] शतपथ ब्राह्मण सामर्पण भाष्य, स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती, प्रकाशक-स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ १९९५। पृष्ठ -२१

[१९] माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण- ११/३/१/१

[२०] शतपथ ब्राह्मण सामर्पण भाष्य, स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती, प्रकाशक-स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ १९९५। पृष्ठ -२१

प्रत्यक्षरूप से प्राप्त होता है, वह दूध है तथा उससे सामान्य लक्षण द्वारा जो नियम बनाए जाते हैं, वही घृत है, जिसमें सदैव ही लोककल्याण की भावना निहित होती है। तभी तो वह सत्य का वास्तविक मन्तव्य हो सकता है, इसीलिए शतपथकार कहते हैं-

इन्द्रियं वै वीर्यं गावः।[२१]

१४. इसी प्रकार शतपथ में प्रयाज, अनुयाजादि भागों में बताया गया है कि माता-पिता को पति, पत्नी के रूप में आपस में कैसा व्यवहार करना चाहिए, साथ ही यहाँ आदर्श व्यक्ति बनने के लिए अपने घृत अर्थात् वीर्य को पत्नी के दिव्य भावों को अर्पित करने की बात के उल्लेख के पीछे भी इस ब्राह्मण की लोकोपकारी भावना को ही प्रमुख कहा जा सकता है,[२२] क्योंकि किसी भी समाज में आदर्श भाव में सदैव स्वार्थ न होकर परार्थ ही निहित रहता है।

१५. इसके अतिरिक्त भाष्यकार के अनुसार यज्ञ में प्रयुक्त कुशा को यहाँ तप का चिह्न कहा है[२३] तथा बायाँ हाथ 'माता' और दायाँ हाथ गुरुकुल के ब्राह्मण एवं यज्ञ में प्रयुक्त मृगचर्म को वेद के रूप में माना है।[२४] इसी प्रकार यहाँ प्रयुक्त हवि को बालक और पृथिवी को माता स्वीकार किया गया है।[२५] अतः इन्हीं प्रतीकात्मक अर्थों के परिप्रेक्ष्य में शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने एक

---

[२१] माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण- ५/४/३/१०

[२२] शतपथ ब्राह्मण- १/३/१/२१

[२३] शतपथ ब्राह्मण- १/१/३/५

[२४] शतपथ ब्राह्मण सामर्पण भाष्य, स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती, प्रकाशक-स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ १९९५। पृष्ठ -६२

[२५] वही

मन्त्र[२६] की व्याख्या करते हुए माता, बालक एवं राष्ट्र के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए इसकी लोकोपकारी भावना को प्रतिपादित किया है। तद्नुसार-

जब तक बालक गुरुकुल में अध्ययन के लिए नहीं जाता है, तब तक बाएँ हाथ अर्थात् माता का विशेष कर्तव्य है कि वह कृष्णाजिन रूप बालक की ज्ञान-वृद्धि का पूरा-पूरा ध्यान रखे, क्योंकि यह बालक राष्ट्र की धरोहर है।[२७]

इस प्रकार की व्याख्या के पीछे भी भाष्यकार द्वारा शतपथकार की लोककल्याणकारी दृष्टि व इस सम्बन्ध में उसकी चिन्ता को ही उद्घाटित करना रहा है, क्योंकि इस प्रकार माता द्वारा यत्नपूर्वक संस्कार प्रदान की गयी सन्तति निश्चय ही लोकोपकारी भावनाओं से ही ओतप्रोत होने के साथ-साथ सम्पूर्ण मानवता की सेवा भावना वाली होगी।

१६. इसी प्रकार इस ब्राह्मण में एक स्थल पर[२८] ऊखल लाने तथा बाएँ हाथ से कृष्णाजिन को दबाने की बात का भी कथन हुआ है-

अथ दक्षिणे नोलूखलमायति। नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षा स्या विशामिति ब्राह्मणो हि रक्षसापहन्ता तस्मादभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति।[२९]

यहाँ ब्राह्मण अर्थात् गुरु, कृष्णाजिन अर्थात् बालक में राक्षस अर्थात् दुष्ट भाव प्रविष्ट न हो जाएँ, इस दृष्टि से उस पर नियन्त्रण रखता

---

[२६] शतपथ - १/१/४/५

[२७] शतपथ ब्राह्मण सामर्पण भाष्य, स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती, प्रकाशक-स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ १९९५ । पृष्ठ -६३

[२८] शतपथ - १/१/४/६

[२९] वही

है। जिसे शतपथकार की लोकोपकारी भावना के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है, क्योंकि व्यक्ति में प्रविष्ट हुए दुष्ट भाव सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों को हानि पहुँचाने के कारण बनते हैं, यहाँ तक कि सम्पूर्ण मानवता के विनाश में भी सक्षम होते हैं। इसलिए बालक की ब्रह्मचर्यावस्था में उन दुष्ट भावों पर नियन्त्रण रखना गुरु का प्रमुख दायित्व है, जिसे यहाँ प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्त किया गया है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि शतपथ ब्राह्मण में वर्णित यज्ञों की प्रत्येक क्रिया एवं प्रत्येक याग के पीछे वस्तुतः लोकोपकारी भावना ही रही है, जिसे समझने के लिए हमें यहाँ प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली तथा इसकी प्रतीकात्मक शैली से अवगत होना अनिवार्य है, एतदर्थ स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती कृत शतपथ का हिन्दी भाष्य सर्वाधिक उपयोगी है। अतः शतपथ की लोकोपकारी दृष्टि के विस्तृत अध्ययन के लिए इस भाष्य का गहन अध्ययन अपेक्षित है, जो स्वयं में शोध का विषय भी हो सकता है। इति शम्।

गौतमधर्मसूत्र में ब्रह्मचर्याश्रम का स्वरूप

प्रो. नरसिंह चरण पण्डा[१]

वैदिक साहित्य में सूत्र-ग्रन्थों के अध्ययन एवं चिन्तन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सूत्र साहित्य को वेदाङ्ग के अन्तर्गत कल्प शीर्षक में रखा गया है। वेदाङ्ग की संख्या छः है। उसमें से कल्प पूर्ण वेदाङ्ग है, इसके अन्तर्गत सूत्रों का विशाल भण्डार समाहित है। वैदिक यज्ञ संपादन कार्यादि के लिए कल्पसूत्रों का महत्त्व अत्यन्त अधिक है। कल्प का अर्थ है वेद में विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र[२] अर्थात् जिन यज्ञ-यागादि तथा विवाह-उपनयादि संस्कार कर्मों का विशिष्ट प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थों में किया गया है, उन्हीं का क्रमबद्ध वर्णन करने वाले सूत्र-ग्रन्थों का सामान्य अभिधान कल्प है। ये सूत्र प्राचीनतम इसलिए माने जाते हैं क्योंकि ये अपने विषय प्रतिपादन में ब्राह्मण तथा आरण्यकों के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखते हैं। कल्पसूत्र चार प्रकार हैं, यथा- श्रौत, गृह्य, धर्म एवं शुल्व। यह समग्र सूत्र साहित्य स्मृति

[१]**संस्कृत विभाग, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं भारत-भारती अनुशीलन संस्थान, पञ्जाब विश्वविद्यालय, पञ्जाब**

[२] कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्॥ द्रष्टव्य, विष्णुमित्र ऋग्वेदप्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, पृ. १३

के अन्तर्गत आता है। कारण स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् वेद के ईश्वर प्रकाशित सृष्टि एवं ऋषि दृष्ट वाङ्मय से भिन्न साहित्य के लिए हुआ है। अतः धर्मसूत्र भी स्मृति ग्रन्थ है।[३] धर्मसूत्र में चतुवर्णों के कर्त्तव्य कर्म तथा वर्तन प्रकार के साथ-साथ राजधर्म का वर्णन मुख्य है। राजा के कर्त्तव्य, प्रजा के साथ सम्बन्ध, व्यवहार के नियम, शिष्य का कर्त्तव्य, गुरु के साथ व्यवहार, वेदाध्ययन सम्बन्धी नियम, अवस्था विशेष में प्रायश्चित्त का विधान धर्मसूत्र को महत्त्व प्रदान करता है।

गौतमधर्मसूत्र के रचयिता का नाम सूत्र के नाम के अनुसार गौतम मुनि है। यह धर्मसूत्र समस्त उपलब्ध धर्मसूत्रों में प्राचीनतम है। यह केवल गद्य में है तथा इसमें श्लोक का कोई उद्धरण नहीं दिया गया है, जबकि दूसरे धर्मसूत्रों में श्लोक का उद्धरण आया है। पुनश्च इसमें किसी अन्य धर्मसूत्र का या धर्मसूत्रकार का निर्देश नामतः नहीं है किन्तु इसके पहले धर्मशास्त्र और उसके रचयिता विद्यमान थे इस बात की ओर बहुश उल्लेख इसमें मिलता है।[४] गौतमधर्मसूत्र का निर्देश मनु, याज्ञवल्क्य, कुमारिल, शङ्कराचार्य तथा मेधातिथि ने किया है।[५] हरदत्त ने अपनी व्याख्या से तथा आचार्य मस्करी ने अपने भाष्य से इसके अर्थ को सरल तथा बोधगम्य बनाया है।

इस धर्मसूत्र में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, वेदाध्ययन के नियम, महत्त्व

---

[३] श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृति॥ मनुस्मृति, २.१०

[४] गौतमधर्मसूत्र, १.८.५, १.८६, २.२.९, २.२.३, ३.१.१२, ३.२.२८, आदि...।

[५] मनुस्मृति ३.१६ में गौतम का उल्लेख किया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति १.५ में उन्हें धर्मशास्त्रकारों में गिनाया है पराशरण्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौ। शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में ३.१.८ में गौतम के २.२.१९ को तथा १.३.३८ में २.३.४ को उद्धृत किया है। आदि...।

के आदि विषय में जो वर्णन हुआ है, उसका सारांश इस शोध पत्र में प्रस्तुत किया जायेगा।

समाज में सबसे श्रेष्ठ स्थान गुरु का है। विद्या अध्ययन काल में शिष्य के गुरु के प्रति क्या क्या कर्त्तव्य हैं? उनके विषय में कहा गया है कि प्रतिदिन प्रातःकाल शिष्य का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह गुरु का चरणस्पर्श करें।[६] पुनः वेद पाठ प्रारम्भ करने से पूर्व अन्त में भी गुरु का चरणस्पर्श करें।[७] गुरु सर्वत्र एवं सदा पूजनीय है, अतः गुरु के एवं पूजन के बिना वेदाध्ययन करना अनुचित है। धर्मज्ञों का मत है कि सभी अवसरों पर गुरु का पादोपसंग्रहण करें, अभिवादन मात्र नहीं।[८] गुरु के बुलाने पर अध्ययन के लिए जाये, परन्तु उन्हें स्वयं प्रेरित न करे।[९] गुरु के आज्ञा देने पर शय्या, आसन और स्थान से उठकर उत्तर देना चाहिए।[१०] गुरु आज्ञा के अनुसार शिष्य को उत्तर मुख होकर बैठना चाहिए।[११] वेदाध्ययन के समय अगर गुरु शिष्य के मध्य में कोई भी प्राणी आ जाये, तो शिष्य को पुनः गुरु के चरण स्पर्श आदि कर्म करने होते हैं। यह नियम अत्यन्त कठोर होता है।

गुरुकुल में निवास सम्बन्धी नियम

वेदाध्ययन के लिए सबसे श्रेष्ठ स्थान गुरुकुल है। कारण

---

[६] गुरोः पादोपसंग्रहणं प्रातः ॥ गौतमधर्मसूत्र, १.१.५३

[७] ब्रह्मानुवचने चाद्यन्तयोः ॥ तदेव, १.१.५४

[८] उपसंग्राह्य आचार्य इत्येके। आपस्तम्बधर्मसूत्र, १.२.५.२०

[९] आहूतोऽध्यायी ॥ गौतमधर्मसूत्र, १.२.३५

[१०] शय्यासनस्थानानि विहाय प्रतिश्रवणम् ॥ गौतमधर्मसूत्र १.२.३०

[११] अनुज्ञात उपविशेत् प्राङ्मुखो दक्षिणतः शिष्य उदङ्मुखो वा ॥ तदेव, १.१.५५

गौतमधर्मसूत्र स्पष्ट शब्दों में कहता है कि **नित्यमेके नगरे**[१२] अर्थात् कुछ आचार्यों के अनुसार नगर में वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए। अतः वेदाध्ययन के लिए सबसे श्रेष्ठ स्थान गुरुकुल है, जो नगर से दूर होता है तथा विद्यार्थी ब्रह्मचर्य पालन करते हुए नियम पूर्वक वेदाध्ययन करता है। कारण अध्ययन एक तप है, इसके लिए वातावरण की अनुकूलता, मानसिक शान्ति और एकाग्रता, समुचित स्थान एवं पवित्रता पर धर्मसूत्रों में विस्तृत विचार किया गया है।

गुरुकुल में विद्यार्थी या ब्रह्मचारी को गुरु के समीप निवास करना पड़ता है। कितने साल तक ब्रह्मचारी को वेदाध्ययन के लिए गुरुकुल में नियमपूर्वक रहना पड़ता है? उत्तर में गौतमधर्मसूत्र कहता है- बारह वर्ष तक की अवधि आचार्य कुल में निवास करने की न्यूनतम अवधि है। यह १२ वर्ष का समय केवल एक वेद का अध्ययन के लिए है।[१३] परन्तु जो ब्रह्मचारी चारों वेदों का अध्ययन करने में समर्थ हो तो प्रत्येक वेद के लिए बारह वर्ष (१२*४=४८) तक गुरुकुल में निवास करें[१४] अथवा जितने कम समय में (एक, दो, तीन या चारों वेद का) ग्रहण कर सके उतने वर्ष समय तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहे।[१५] ब्रह्मचारी को गुरुकुल में अनेक नियमों का पालन करना पड़ता है, इन सबकी संक्षेप में चर्चा करेंगे।

उपनयन संस्कार से पूर्व ब्रह्मचारी या विद्यार्थी इच्छानुसार कार्य कर सकता है, जैसा चाहे बोल सकता है और इच्छानुसार भोजन कर सकता

---

[१२] गौतमधर्मसूत्र, २.७.४५

[१३] द्वादश वर्षाण्येकवेदे ब्रह्मचर्यं चरेत्॥ गौतमधर्मसूत्र १.२.५१

[१४] प्रति द्वादश वा सर्वेषु॥ गौतमधर्मसूत्र २.५२

[१५] ग्रहणान्तं वा॥ गौतमधर्मसूत्र, १.२.५३

है।[१६] परतु यज्ञोपवीत धारण करने से पूर्व एवं पश्चात् भी विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।[१७] ब्रह्मचारी प्रतिदिन शुद्ध जल में समयानुसार स्नान करके अग्निकर्म (समिधाओं से होम) और भिक्षाचरण करें।[१८] कारण गुरुकुल में ब्रह्मचारी के धर्म का एक आवश्यक अङ्ग सायं-प्रातः समिदाधान और भैक्षाचरण है।[१९] ब्रह्मचारी भिक्षाचरण के रूप में एक प्रकार का यज्ञ करता है- **भैक्षं हविषा संस्तुतं तत्राचार्यों देवतार्थे।**[२०] परन्तु धर्मसूत्र में भिक्षा के कुछ निश्चित निमित्त विहित हैं, यथा- आचार्य को दक्षिणा देने के लिए, विवाह, यज्ञ, माता-पिता के भरण-पोषण के लिए भिक्षा मांगी जा सकती है। केवल भौतिक सुख की लिप्सा से भिक्षा माँगना पाप है। ब्रह्मचारी को भिक्षा देना गृहस्थ का परम कर्त्तव्य है। धर्मसूत्र के अनुसार भिक्षा न देने पर ब्रह्मचारी पुण्य, प्रजा, पशु, कुल, विद्या, सभी कुछ छीन लेता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी को सर्वदा सन्ध्योपासनादि कर्म नियमपूर्वक करने चाहिएँ। गौतम धर्मसूत्र में विशेषरूप से ब्रह्मचारी के लिए कुछ कर्म निषिद्ध हैं, जिनका उसे परित्याग करना चाहिए। इन नियमों का पालन करना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है, जैसे:-

वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्यदिवास्वप्राजनाभ्यञ्जनयानोपानच्छत्रकामक्रोधलोभमोहवादवादनस्नानदन्तधावनहर्षनृत्यगीतपरिवादभयानि।[२१]

---

[१६] पागुपनयनात्कामचारः कामवादः कामभक्षः॥ गौतमधर्मसूत्र, १.२.१

[१७] उक्तं ब्रह्मचर्यम्॥ तदेव, १.२.११

[१८] अग्नीन्धन भैक्षचरणे। गौतमधर्मसूत्र, २.१२

[१९] गौतमधर्मसूत्र, १ण् २.४१-४५

[२०] आपस्तम्बधर्मसूत्र, १ण् १. ३.४३

[२१] गौतमधर्मसूत्र, १.२.१९

ब्रह्मचारी को मधु, माँस, गन्ध, दिन में सोना, आँखों में अञ्जन लगाना, शरीर के अङ्गों में तेल एवं सुगन्धित लेप लगाना, रथ या अन्य गाड़ी से यात्रा करना, जूता, छत्र धारण करना, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अधिक भाषण, वीणा आदि का वादन, आनन्द के लिए बारम्बार स्नान, दन्तधावन, हर्ष, नृत्य, गीत, परनिन्दा और भय के कर्म - इन सबका सर्वदा परित्याग करना चाहिए।

पुनश्च ब्रह्मचारी को गुरु के सम्मुख कण्ठ ढकना, गुरु की ओर पैर करके बैठना, दीवाल या खम्भे आदि का सहारा लेकर बैठना तथा पैर फैलाना आदि अनुचित कर्मों से सदा दूर रहने के लिए उपदेश दिया गया है। साथ-साथ खखारना, हँसना, जम्हाई लेना और अंगुलियों को चाटना; यह सब भी गुरु के समक्ष न करने के लिए ब्रह्मचारी को उपदेश दिया गया है।[२२] इसके साथ-साथ ब्रह्मचारी के लिए विशेष रूप से गुरु के निकट बैठने, सोने आदि के नियम बताये गये हैं। यथा-

अधः शय्यासनी पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी।[२३]

ब्रह्मचारी गुरु की शय्या की अपेक्षा नीची शय्या पर सोवे, गुरु के आसन की अपेक्षा नीचे आसन पर बैठे, गुरु के जागने से पहले ही उठे और उनके सोने के बाद सोवे। जहाँ तक भोजन का सवाल है तो सबसे पहले गुरु या आचार्य को खिलाने के बाद जो उच्छिष्ट बचे, उसका भोजन करे, ऐसा ब्रह्मचारी के लिए उपदेश दिया गया है। यदि गुरु कहीं बाहर गये हैं तो उनके अनुपस्थिति में उनकी पत्नी, उनके पुत्र या अपने साथ के

---

[२२] गुरुदर्शने कण्ठप्रावृतावसक्थिकाश्रयणपादप्रसारणानि॥
निष्ठीवितहसितविजृम्भितावस्फोटनानि॥ गौतमधर्मसूत्र, १.२.२०.२१

[२३] गौतमधर्मसूत्र, १.२.२६

ब्रह्मचारिओं के समक्ष रखकर (उनकी अनुमति मिलने पर भिक्षान्न का) भोजन करे।[२४] भोजन करते समय मौन रहे, प्रसन्न रहे, लालच न करे और जल का पात्र अपने निकट रखे।[२५] भोजन शुद्ध एवं पवित्र होना चाहिए तथा मद, मत्स्य, मांसादि से भी भिन्न होना चाहिए।[२६]

ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी के उत्तम गुण, व्यवहार एवं कर्त्तव्य

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता है - ब्रह्मचारिओं का आदर्श चरित्र निर्माण। सादा जीवन और उच्च विचार, व्रताभ्यास, गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के मुख्य तत्त्व हैं। फैशन या शान-शौकत का वहाँ कोई स्थान नहीं। धर्मशास्त्र में ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्यपालन पूर्वक सर्वदा युवती, कन्या-नारी आदि से दूर रहने के लिए उपदेश दिया गया है। समस्त धर्मसूत्र में ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्मचर्य अनुशासन और ज्ञानार्जन का जीवन है। ब्रह्मचर्य जीवन से वास्तविक आचार और धर्म का जीवन प्रारम्भ होता है। गौतमधर्मसूत्र में ब्रह्मचर्य को बड़ा तप कहा गया है। ब्रह्मचर्य के बिना ब्रह्मचारी का नाम सार्थक नहीं होता है। अतः ब्रह्मचर्य पालन करना सभी विद्यार्थियों के लिए परम आवश्यक तथा धर्मोचित कार्य है। जैसा कहा गया है-

ब्रह्मचर्यं सत्यवचनं सवनेषूदकोपस्पर्शनमार्द्रवस्त्रताऽधः शायिताऽनाशक इति तपांसि।[२७]

---

[२४] तदेव, १.२.४५-४६

[२५] वाग्यतस्तृप्यन्नलोलुप्यमानः सनिधायोदकम्॥ तदेव, १.२.४७

[२६] तस्माद् गुरुकुले तिष्ठन् मधुमांसाद्य वर्जयेत्।
जिज्ञासेताऽविरुद्धत्वाद्धर्ममित्यवगम्यते॥ - बौधायनधर्मसूत्र, १.३.५.१। भाष्य से उद्धृत

[२७] गौसतमधर्मसूत्र, ३.१.१५

अर्थात् ब्रह्मचर्य (मैथुन त्याग आदि), सत्य भाषण, प्रातः, मध्यन्दिन एवं सायंकाल में स्नान, स्नान के पश्चात्, नंगी भूमि पर शयन करना, ये सब ब्रह्मचारी के तप हैं।

ब्रह्मचर्य धर्माचरण का एक आवश्यक एवं अभिन्न अङ्ग है। जैसा कहा गया है कि विद्यार्थी जीवन में इस व्रत का बड़ी कठोरता से पालन करने का आदेश बार-बार दिया गया है। समस्त उपलब्ध धर्मसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचारी को किसी भी कुमारी नारी पर दृष्टिपात और उनका स्पर्श नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे काम भावना के उत्तेजन की आशङ्का रहती है।[२८] यहाँ तक कि यदि गुरुपत्नी भी युवती हो तो उनका चरण स्पर्श नहीं करना चाहिए- **नैके युवतीनां व्यवहारप्राप्तेन**[२९] ब्रह्मचर्य में स्त्री सम्बन्ध के त्याग पर इतना बल दिया गया है कि ब्रह्मचर्य मैथुनत्याग का पर्यायवाची हो गया है और उसके अन्य (समस्त) आचरण गौण प्रतीत हो रहे हैं अर्थात् आज के सन्दर्भ में ब्रह्मचर्य पालन का अर्थ केवल मैथुन सम्बन्धी आचरण या व्यवहार के त्याग तक संकुचित (सीमित) हो गया है क्योंकि ब्रह्मचर्य पालन में काम भावना ही मुख्य बाधा है। अतः इस प्रकार बाधाओं से दूर रहकर तथा प्रत्येक विधि से भोग प्रवृत्ति को रोक कर ब्रह्मचारी को विद्याध्ययन में तत्पर रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्य जीवन सभी प्रकार नैतिक गुण का अर्जन और अभ्यास का जीवन है। ब्रह्मचारी को क्षमाशील, कर्तव्यपालन में तत्पर तथा लज्जाशील होना चाहिए। धैर्य, उत्साह, अक्रोध, अनसूया ब्रह्मचारी के

---

[२८] स्त्रीप्रेक्षणोलम्भने मैथुनशंकायाम्॥ गौतमधर्मसूत्र, १.२.२२

[२९] तदेव, १.२.४०

आवश्यक चारित्रिक गुण हैं। ब्रह्मचारी के कर्म मुख्यतः तीन प्रकार के हैं- गुरु को प्रसन्न करने वाले कर्म,[३०] कल्याण की प्राप्ति के कर्म तथा वेद का परिश्रम-पूर्वक अभ्यास। इन कर्मों के अतिरिक्त दूसरे कर्म ब्रह्मचारी को नहीं करने चाहिएँ।[३१] इस प्रकार अध्ययन और गुरु की सेवा विद्यार्थी जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। गौतमधर्मसूत्र के अनुसार एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवन पर्यन्त आचार्य के अधीन (गुरुकुल में निवास करते हुए एवं आचार्य की सेवा करते हुए) रहें- **आचार्याधीनत्वमान्तम्।**[३२]

विद्या ग्रहण करने के बाद एवं गुरुकुल छोड़ने से पहले ब्रह्मचारी को गुरुदक्षिणा देनी पड़ती है। यह एक साधारण नियम एवं शाश्वत धर्म है। ब्रह्मचारी इस परम कर्तव्य को गुरु की आज्ञानुसार गुरुदक्षिणा प्रदान करके अथवा उनके द्वारा प्रसन्नतापूर्वक (बिना दक्षिणा लिए ही) आज्ञा दी जाने पर समावर्तन स्नान करके गुरुकुल से प्रस्थान करे।[३३]

वेदाध्ययन का महत्त्व एवं अनध्याय दिवस

स्मृति का आधार श्रुति ही है। श्रुति से स्वतन्त्र रूप में स्मृति की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। गौतमधर्मसूत्र के अनुसार **तन्मूल्त्वाद्धर्मस्य श्रुतेश्च**[३४] अर्थात् धर्म और श्रुति का मूल वेदज्ञान है अर्थात् वेद धर्म के मूल प्रमाण हैं[३५] एवं वेद का ज्ञाता सबसे श्रेष्ठ होता है- **श्रुतं तु सर्वेभ्यो**

---

[३०] युक्तः प्रियहितयो॥ तदेव, १.२.३६

[३१] गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते। कर्णो तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥ तदेव, २.२००

[३२] गौतमधर्मसूत्र, १.३.५

[३३] तदेव, १.२.५४-५५

[३४] तदेव, १.६.२०

[३५] वेदो धर्ममूलम्॥ तदेव १.१.१

गरीयः[३६] अर्थात् वेद में समस्त विद्याएँ उपलब्ध हैं। अतः गौतमधर्मसूत्र में उपदेश दिया गया है कि 'सदैव वेद के अध्ययन में तत्पर रहें[३७] क्योंकि **सर्वज्ञानमयो हि सः।**[३८]

अब वेदाध्ययन प्रारम्भ करने की वार्षिक तिथि एवं अध्ययन का सत्र आदि के विषय में चर्चा करेंगे।

वेदाध्ययन प्रारम्भ करने हेतु शुभ समय की आवश्यकता होती है। धर्मशास्त्र के अनुसार जब मन चाहे तब कोई वेदाध्ययन नहीं कर सकता है। अतः (उसके लिए) शुभ समय, पवित्र स्थान, निर्दिष्ट तिथि एवं उचित परिवेश के अनुसार वेदाध्ययन करने का उपदेश दिया गया है। अब प्रश्न उठता है कि किस तिथि में वेदाध्ययन प्रारम्भ करें? गौतमधर्मसूत्र के अनुसार श्रावण पूर्णिमा के दिन वेदाध्ययन आरम्भ करने की वार्षिक तिथि होती है अथवा भाद्रपद की पूर्णिमा को उपाकर्म करके वेदाध्ययन का प्रारम्भ करना चाहिए। यथा उक्तम्-

श्रावणादिवार्षिकीं प्रोष्ठपदीं वोपाकृत्याधीयीच्छन्दांसि।[३९]

श्रावण पूर्णिमा से प्रारम्भ करके कब तक इस अध्ययन का क्रम जारी रखें। उत्तर में कहा गया है कि-

अर्धपञ्चमान्यातान्य च दक्षिणायनं वा।[४०]

अर्थात् साढ़े चार महीने अथवा पूरे पाँच महीने अथवा जब तक

---

[३६] गौतमधर्मसूत्र, १.६.१९

[३७] श्रुतिनिरतः स्यात्॥ तदेव, १.९.७२

[३८] मनुस्मृति, पृ. ७ (वेद सब विद्याओं का भण्डार है एवं भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति -भूत, वर्तमान, भविष्यत्, सबका बीज वेदों में निहित है- मनु., १२.९७)

[३९] गौतमधर्मसूत्र, २.७.१

[४०] तदेव, २.७.२

सूर्य दक्षिणायन में रहे, तब तक (वेद) अध्ययन करे। इस अध्ययन काल में ब्रह्मचारी रहे और क्षौर कर्म न करावे और मांस का भक्षण न करे। इन सब विषयों के (ऊपर) पहले ही चर्चा हो चुकी है। अब अनध्याय (अर्थात् कब और कहां वेदाध्ययन न करें) के विषय में विशेष रूप में वर्णन करेंगे।

अध्ययन एक तप है- (**छात्राणां अध्ययनं तपः**), इसके लिए वातावरण की अनुकूलता, मानसिक शान्ति और एकाग्रता, उचित स्थान और पवित्रता पर धर्मसूत्रों में विस्तृत विचार किया गया है। इसीलिए अनध्याय का प्रकरण सूक्ष्म बातों के साथ प्रायः सभी धर्मसूत्रों में मिलता है। अतः गौतमधर्मसूत्रकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जो अनध्याय विषयक नियम इस धर्मसूत्र में लिपिबद्ध हैं, उसका तो अवश्य पालन करना चाहिए और साथ-साथ धर्मग्रन्थों में जो नियम उपलब्ध होता है, उसका भी पालन करना चाहिए-

प्रतिविद्यं च यान्स्मरन्ति (यान्स्मरन्ति)।[४१]

अतः समस्त धर्मसूत्रों में अनध्याय विषयक नियमों को पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ इस विषय पर संक्षेप में चर्चा अपेक्षित है।

तात्कालिक अनध्याय

मेघ गर्जन होने पर[४२], वृष्टि होने पर[४३], विद्युत् चमकने पर[४४], दिन

[४१] तदेव, २.७.४९

[४२] स्तनयित्नुरपराह्ने॥ गौतमधर्मसूत्र, २.७.२८-३०

[४३] वर्षति च॥ तदेव, २.७.१३

[४४] विद्युति नक्तं चाऽऽपररात्रात्॥ सतनयित्नुवर्षविद्युतश्च प्रादुष्कृताग्निषु॥ तदेव, २.७.२५

में धूलभरी वायु बहने पर[४५], कहीं से दुर्गन्ध आने पर[४६], भोजन के तुरन्त बाद, मैथुन आदि के बाद, वीणा, भेरी, मृदंग आदि शब्द सुनने के बाद[४७], मध्यरात्रि में, संध्या समय में[४८], अतिथि का आगमन पर, भयभीत होने पर[४९] और अपवित्र अवस्था में[५०] वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए। यह अनध्याय कुछ समय या घण्टों के लिए मान्य है।

आकालिक अनध्याय या प्राकृतिक उत्पात आदि के कारण अनध्याय

वज्रपात होने पर, भूकम्प होने पर, राहु के दिखलाई पड़ने पर एवं उल्कापात होने पर दूसरे दिन के उसी समय तक (२४ घण्टे पर्यन्त) अनध्याय रहता है।[५१] पुनश्च गाँव में चोरों आदि का उपद्रव होने पर, आग लग जाने पर एवं श्राद्ध के भोजन कराने पर २४ घण्टे तक अनध्याय रहता है।[५२]

अध्ययन के लिए अयोग्य स्थान

महर्षि गौतम के अनुसार श्मशान में, ग्राम की सीमा पर, महापथ में तथा अशौच स्थानों पर अध्ययन नहीं करना चाहिए। यथा- **श्मशानग्रामान्तमहापथाशौचेषु।**[५३]

एवं २.७.२३

[४५] गौतमधर्मसूत्र २.७.५-६

[४६] तदेव, २.७.१९

[४७] वाणभेरीमृदंगगर्तार्तशब्देषु, तदेव, २.७.७

[४८] तदेव, २. ७.१२

[४९] तदेव, २.७.१७

[५०] तदेव, २.७.४६

[५१] आकालिका निर्घातभूतिकम्पराहृदर्शनोल्काः॥ गौतमधर्मसूत्र, २.७.२२ एवं २.७.२७

[५२] संकुलोपाहितवेदसमाप्तिच्छार्दि...॥ गौतमधर्मसूत्र, २ .७.३४

[५३] गौतमधर्मसूत्र, २ .७.१८

पुनश्च, अश्व आदि यान पर चढ़कर, सोकर और एक पैर के ऊपर दूसरा पैर रखकर अथवा आसन आदि पर पैर रखकर अध्ययन नहीं करना चाहिए। जल में खड़े होकर तथा जहां अशौच वस्तु हो एवं शव या चण्डाल हो तथा शूद्र[५४] के निकट अध्ययन नहीं करना चाहिए।[५५]

राजा, आचार्य एवं निकट सम्बन्धियों की मृत्यु पर अनध्याय

गौतम, आपस्तम्ब एवं अन्य स्मृतिकारों के अनुसार राजा, आचार्य और माता-पिता आदि सम्बन्धियों के मृत्यु होने पर अनध्याय रहता है। धर्मसूत्रकार गौतम के अनुसार जिस स्थान पर निवास किया जा रहा हो वहां के अधिपति राजा की मृत्यु होने पर दिन भर अनध्याय रहता है।[५६] माता, पिता तथा आचार्य की मृत्यु पर बारह दिन का अनध्याय होता है- यह आपस्तम्ब धर्मसूत्र का मत है। परन्तु अन्य निकट सम्बन्धियों की मृत्यु पर केवल तीन दिन का अनध्याय रहता है और यह नियम केवल ब्रह्मचारी के लिए है, अन्यथा निकट सम्बन्धियों की मृत्यु होने पर गृहस्थों के लिए दस दिन तक अशौच रहता है।[५७]

उत्सव एवं अन्य निर्दिष्ट तिथियों में अनध्याय:

उपनयन आदि उत्सव में भोजन के पश्चात् उस दिन अनध्याय रहता है। श्रावणादि वार्षिकोत्सव के समय उसके पूर्व और पश्चात्

[५४] स्वामी दयानन्द के कारण आज समाज में स्त्री एवं शूद्र अध्ययन करने में समर्थ हैं। परन्तु उनसे पहले शूद्र को अपवित्र माना जाता था। अतः अपवित्र होने के कारण ब्राह्मण के सामने आना या वेद अध्ययनादि पवित्र कर्म करने में असमर्थ था। परन्तु आज ऐसी स्थिति नहीं है। इसका श्रेय स्वामी दयानन्द को ही जाता है।

[५५] भीतो यानस्थ: शयानः प्रौढपादः ॥ गौतमधर्मसूत्र, २ .७.१७ एवं २ .७.१२,१९

[५६] गौतमधर्मसूत्र, २.७.३२

[५७] आपस्तम्बधर्मसूत्र, १.३.१०.२-४, तुलनीय:- गोभिलगृह्यसूत्र, ३.३.२६

(उपाकरण एवं उत्सर्जन के) दिनों को लेकर तीन दिन पर्यन्त अनध्याय रहता है।[५८] आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार आषाढ़ महीने के इन्द्रोत्सव में और वसन्त उत्सव के समय (अनुवाक का) अध्ययन नहीं करना चाहिए।[५९]

नरसिंह पुराण के अनुसार अक्षय-तृतीया के दिन भी अनध्याय रहता है।[६०] इसके साथ-साथ धर्मसूत्रों में अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, प्रतिपदा, पूर्णिमा[६१] आदि तिथियों में अध्ययन न करने के लिए सख्त मना किया गया है, क्योंकि इन तिथियों में अध्ययन करने से गुरु एवं शिष्य दोनों का महान् अनर्थ होता है। गौतमधर्मसूत्र में अमावस्या एवं उसके पूर्व दिवस अर्थात् चतुर्दशी यह दो दिन अनध्याय दिवस है, ऐसा वर्णन मिलता है, यथा- **अमावास्यायां च। द्व्यहं वा।**[६२] बौधायन धर्मसूत्र[६३] के अनुसार अष्टमी आदि तिथियों में अध्ययन करना गुरु एवं शिष्य दोनों के लिए अत्यन्त अमंगलप्रद और विनाशकारी है। मनुस्मृति में भी अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथियों में अध्ययन न करने के लिए उपदेश दिया गया है। कारण अमावस्या तिथि में अध्ययन करने से गुरु का विनाश होता है एवं चतुर्दशी तिथि में अध्ययन करने से शिष्य का

---

[५८] अभितो वार्षिकम्॥ गौतम धर्मसूत्र, पा. ७.४०., तुलनीय: उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतम्॥ मनुस्मृति, ४.११९

[५९] अविहितमनुवाकाध्ययनमाषाढवासन्तिकयोः॥ आपस्तम्बधर्मसूत्र, १. ३.९.१६

[६०] तथाक्षय तृतीयायां शिष्यान् नाध्यापयेद् द्विजः॥ नरसिंहपुराण, ५८.११०

[६१] कार्तिकी फाल्गुन्याषाढी पौणमासी॥ गौतमधर्मसूत्र, २.७.३७.

[६२]गौतमधर्मसूत्र, २.७.३५-३६

[६३] हन्त्यष्टमी ह्युपाध्यायं हन्ति शिष्यं चतुर्दशी।
हन्ति पंचदशी विद्यां तस्मात् पर्वाणि वर्जयेत्॥ १.११.२१.२४

नाश होता है।[६४] अतः यह सब वर्जनीय है।

इस प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति[६५], शंखस्मृति[६६], आपस्तम्बधर्मसूत्र[६७], विष्णुधर्मसूत्र[६८], भावप्रकाश[६९] आदि ग्रन्थों में अनध्याय के विषय में विशद वर्णन मिलता है। परन्तु एक प्रश्न उठता है कि जिस दिन अनध्याय रहता है उस दिन क्या करना चाहिए। इसके उत्तर में आपस्तम्बधर्मसूत्र कहता है- **मनसा चाऽनध्याये।**[७०] अर्थात् अनध्याय के दिन मन से ही स्वाध्याय करें। अतः ब्रह्मचारी को वेदाध्ययन के नियमों को पालन पूर्वक गुरुकुल में निवास करना चाहिए। नियमों का उल्लंघन करने वाले जो अश्रेष्ठ जन हैं उनमें आजकल ऋषि उत्पन्न नहीं होते-

तस्मादृषयोऽवरेषु न जायते नियमातिक्रमात्।[७१]

---

[६४] अमावस्या - चतुर्दश्योः पौणमास्यष्टकासु च॥ मनुस्मृति, ४.११३.
अमावस्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्तिचतुर्दशी।
ब्रह्माष्टका पौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्॥ मनुस्मृति, ४.११४

[६५] पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके। नाधीयीत॥ १.१४६

[६६] अनध्याये एवध्ययनं वर्जयेच्च प्रयत्नतः॥
चतुर्दशी पंचदशीमष्टमीं राहुसूतकम्॥ शंखस्मृति, ४-५

[६७] अहोरात्रावमावास्यातु॥ आपस्तम्बधर्मसूत्र, १.३.९.२८

[६८] अभियुक्तो कोऽपि अनध्यायेषु अध्ययनं परिहरेत्॥
यस्या-दनध्यायाधीतं नेहामुत्र फलप्रदम्॥
तदध्ययने आयुषः क्षयो गुरुशिष्ययोश्च॥ विष्णुधर्मसूत्र, १४.२८-३०

[६९] एतानि पंचकर्माणि सन्धायां वर्जयेद् बुधः।
आहारा मैथुनं संपाठं गति मध्वनि॥
आहाराज्जायते व्याधि-मैथुनाद् गर्भ-वैकृतिः।
निद्रायाःनिःस्वता पाठा-दायु-हानि-र्गते-र्भयम्॥ भावप्रकाश, २७५-२७६

[७०] आपस्तम्बधर्मसूत्र, १.३.११.२०

[७१] तदेव, १.२.५.४

परन्तु पूर्वजन्म के पुण्यफल शेष होने से ही कुछ लोग पुनर्जन्म लेने पर अपने वेद के ज्ञान द्वारा ऋषियों के समान होते हैं।[७२]

अन्त में निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में विद्यार्थियों या ब्रह्मचारियों का यह परम कर्तव्य था कि वे ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरुकुल में अवस्थान करके गुरु आज्ञा को शिरोधार्य मानते हुए उपर्युक्त नियमपूर्वक वेदाध्ययन करते थे। आज भी यह नियम पूर्णरूपेण मान्य है। कारण आज के सन्दर्भ में भी इन नियमों का पालन करना अति आवश्यक दिखाई देता है। जहां इन नियमों का पालन हो रहा है वहाँ अध्ययन की श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध हैं।

[७२] श्रुतर्षयस्तु भवन्ति केचित्कर्मफलशेषण पुनस्सम्भवे। तदेव १.२.५.५

आधुनिक सन्दर्भ में 'चरैवेति' उपदेश की प्रासंगिकता

डॉ. अनीता राजपाल[1]

ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय 'याग' है। याग में, याग के अङ्ग - द्रव्य, देवतादि की अमोघता, औचित्य अथवा अनौचित्य को सिद्ध करने के लिए आख्यानों का सृजन किया गया है। ये आख्यान किसी कर्म के विधान अथवा निन्दा के क्रम में दिये गये हैं। इन आख्यानों में गूढ़ और तात्त्विक बातों का संकेत मिलता है। इन आख्यानों में एक ओर व्यक्ति की तात्कालिक समस्याओं के निवारण के सूत्र हैं, तो वहीं समाज, देश तथ विश्व के लिए कल्याणकारी संदेश भी निहित हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के 'शुनःशेप-आख्यान' में पुत्र-लाभ[2] तथा भ्रमण का महत्त्व प्रतिपादित है। इसी आख्यान के प्रसङ्ग में 'चरैवेति' प्रसङ्ग में ऋषि ने इन्द्र-रोहितोपदेश के व्याज से गतिशीलता, कर्मशीलता का सार्वकालिक, सार्वदैशिक संदेश दिया है।

ऐतरेय ब्राह्मण के तेंतीसवें अध्याय में शुनःशेप के प्रसिद्ध आख्यान

---

[1] **सहाचार्या, संस्कृत-विभाग, हिन्दू-महाविद्यालय, दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली-७**

[2] त्रयस्त्रिंशोऽयमध्यायः शौनशेपेति नामवान्।

हरिश्चन्द्र तत्र कथिता बहुपुत्रदा। ऐ. ब्रा., ३३.१.४

में राजा हरिश्चन्द्र की कथा दी गयी है। "इक्ष्वाकु वंश का राजा हरिश्चन्द्र सन्तानहीन था। महर्षि नारद ने उसे उपाय बतलाया कि तुम राजा वरुण से प्रार्थना करो कि 'मुझे पुत्र उत्पन्न होए, उससे मैं तुम्हारा यजन करूँगा अर्थात् यज्ञ में उसकी आहुति दूँगा।' उसका रोहित नामक पुत्र हुआ। वरुण ने उसे पुत्र द्वारा यजन करने को कहा। हरिश्चन्द्र यह कह कर टालते रहे कि अभी यह बालक है, इसके दाँत निकलने दो, दाँत टूटने दो, पुनः दाँत निकलने दो। अन्तिम बार यह कहकर टाल दिया कि क्षत्रिय का पुत्र धनुष, बाण, कवच इत्यादि शस्त्रों से युक्त होने पर ही यज्ञ-योग्य होता है। रोहित के अस्त्र-शस्त्र की विद्या सीखने के उपरान्त पिता ने उसे सारा वृत्तान्त बतलाया। अपने यजन की बात सुनकर रोहित धनुष-बाण लेकर वन में चला गया और एक वर्ष तक वहाँ घूमता रहा।

रोहित के जाने के बाद हरिश्चन्द्र को वरुण के कोपवश जलोदर रोग हो गया। पिता के रोग का समाचार रोहित को मिला तो वह वन से गाँव की ओर चला, परन्तु इन्द्र ने उसे रोका। इस प्रकार पाँच वर्षों तक इन्द्र के द्वारा रोके जाने जाने पर छठे वर्ष उसे अपनी समस्या के निवारण का उपाय मिला। इन्द्र ने पाँच वर्षों में 'चरैवेति चरैवेति' अर्थात् निरन्तर चलते रहने के पाँच लाभों को बतलाया, जिससे जीवन को स्वस्थ, सुखी और ऐश्वर्य सम्पन्न बनाया जा सकता है।" वे लाभ इस प्रकार हैं -

१. "नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति"[३] -"सर्वत्र पर्यटन करने से अनेक प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त होती है।"[४] यात्रा न करने वाले को कोई सुख नहीं मिलता। जिसके पास विद्यादि सम्पत्ति का सुख है। ऐसा श्रेष्ठ व्यक्ति

---

[३]नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम। पापो नृषद्वरो जन, इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति॥
- ऐ. ब्रा., ३३.३.१

[४]सर्वत्र पर्यटनेन शान्ति... 'श्री' बहुविधा संपन्नास्ति। - ऐ. ब्रा., सायणभाष्य, ३३.३.१

भी यदि बन्धु-बान्धवों के बीच अकर्मण्य रहने पर, मान-सम्मान खो देता है। यदि व्यक्ति यह सोचे कि एकाकी कैसे उच्च लक्ष्य को प्राप्त कर पाऊँगा? ऐसे द्विविधाग्रस्त मानव को ऋषि समझता है कि परमेश्वर ही तुम्हारा मित्र है।

संस्कृत जगत् में ''बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'' यह प्रशस्ति अत्यधिक लोकप्रिय है। बाण का व्यापक अनुभव युवावस्था के भ्रमणों से पुष्ट हुआ था। उसकी उर्वरा कल्पना-शक्ति तथा अगाध पाण्डित्य से समन्वित होकर गद्यकृतियों में प्रवाहित हुई है। बाण ने अपनी रचनाओं में समस्त जगत् का समावेश किया है- यही इस उक्ति का स्वारस्य है।

'अश्रान्त' का अर्थ यह भी है कि कार्यसिद्धि के लिए बिना थके परिश्रम करने वाले को ही श्री= लक्ष्मी मिलती है। कहा भी गया है- ''**उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः**''। निरन्तर परिश्रम करने से ही अपने-अपने व्यवसाय को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाले, अपने-अपने क्षेत्र में नये-नये कीर्त्तिमान स्थापित करने वाले प्रभूत धन-सम्पत्ति के स्वामी भी बन जाते हैं।

१९४५ में परमाणु आक्रमण से नागासाकी और हिरोशिमा शहर पूर्णतया ध्वस्त हो गये थे। निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर जापान ने न केवल इन शहरों को पुनः बसाया अपितु आज 'इलेक्ट्रॉनिक्स' और 'ऑटोमोबाइल' अर्थात् मोटर-वाहन के क्षेत्र में विश्व में अग्रगण्य बना है।

आज व्यक्ति एकाकीपन की समस्या से भी जूझ रहा है। घर में, बाहर एकाकी जीवन अभिशापग्रस्त बन जाता है। लक्ष्य-प्राप्ति में, कार्य-क्षेत्र में आने वाली समस्याओं से एकाकी कैसे निपटा जाए? वृद्धावस्था में कौन सहायक होगा? इन समस्याओं के समाधानार्थ ऋषि कहते हैं कि

इन्द्र अर्थात् परमेश्वर ही सबका सहायक है। प्रत्येक विपदा से निकालने का मार्ग परमेश्वर ही सखा बन कर सुझाता है।

२. द्वितीय वर्ष इन्द्र ने पुनः रोहित को भ्रमण के लाभ गिनवायें -

- "भ्रमण करने वाले पुरुष की जांघे पुष्ट होती है।
- शरीर का मध्यभाग आरोग्य को प्राप्त हो जाता है।
- भ्रमण करने वाला पुरुष मार्ग में पड़ने वाले तीर्थों में देवी-देवताओं के दर्शन से पापकर्म से मुक्त हो जाता है। पुण्यार्जन करने से नरक में नहीं जाता।"[५]

"योग भारतीय ज्ञान की प्राचीन शैली है। योग को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ रहने की पद्धति के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह भारतवासियों के जीवनचर्या का हिस्सा है। वस्तुतः स्वस्थ जीने की कला को योग कहते है। योग के इस वैश्विक महत्त्व के कारण ही संयुक्त महासभा ने २१ जून को 'अन्तर्राष्ट्रिय योग दिवस' घोषित किया।"

कालिदास ने भी कहा है - ''**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**''[६] अर्थात् शरीर ही धर्म की सिद्धि का साधन है। शरीर के स्वस्थ रहने पर ही व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थचतुष्ट्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सकता है। अतः शरीर की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए।

३. इन्द्र ने रोहित को तृतीय और चतुर्थ वर्ष मनुष्य की चार प्रकार की गतिविधियों की तुलना चार युगों से करते हुए गतिशील होने के महत्त्व

---

[५]पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः। शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति॥ ऐ. ब्रा., ३३.३.२

[६] कुमारसम्भवम्, ५.३३

को स्पष्ट किया है। "बैठे हुए व्यक्ति का भाग्य भी बैठ जाता है और खड़े हुए का भाग्य वृद्धि की ओर उन्मुख होता है, भूमि पर शयन करने वाले का भाग्य सो जाता है और निरन्तर श्रमशील व्यक्ति का भाग्य भी प्रतिदिन बढ़ता है।"[७]

"चारों युगों को मनुष्य की विभिन्न अवस्थाओं के परिणाम के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है। कलियुग सोया हुआ रहता है। असन्तोष, अशान्ति, पारस्परिक कलह इस युग की विशेषताएँ हैं। शयनकर्त्ता मनुष्य का जीवन भी दुःख, कष्ट तथा कलह से भरा हुआ होता है।

जो मनुष्य निद्रा को त्यागकर उठने को तत्पर रहता है, कार्य में प्रवृत्त होने का मन बनाता है, वह द्वापर जैसा फल पाता है। द्वापर जगे हुए का प्रतीक है। महाभारत में द्वापर युग का चित्र अंकित है। महाभारत में भी दूषित प्रवृत्तियाँ प्रबल थी, किन्तु अन्ततोगत्वा उनका नाश होकर सत्य की, धर्म की विजय होती है।

त्रेता युग खड़ा हुआ रहता है। परस्पर स्नेह, धार्मिक, नैतिक-भावना की प्रबलता इस युग की विशेषता है। यद्यपि रावण वहाँ भी है। कार्य में प्रवृत्ति प्रारम्भ करने वाला त्रेता जैसा फल पाता है। सत्युग सर्वोत्कृष्ट युग है। यह संचरण करता रहता है। शान्ति, सन्तोष, ईश्वर पर पूर्ण विश्वास इस युग की विशेषताएँ हैं। निरन्तर संचरण करने वाला व्यक्ति अपना कार्य करता है। किसी अन्य के धनादि की कामना नहीं करते हैं।"

ऋषि मनुष्य से कलियुग, द्वापर, त्रेता और सत्ययुग के समान उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होने की प्रेरणा दे रहे हैं। निद्रात्याग कर आगे बढ़ने का

[७] कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरश्चरैवेति। ऐ. ब्रा., ३३.३.३-४

सन्देश दे रहे हैं। यह उपदेश विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से प्रेरणास्पद है।

कठोपनिषद् में भी कहा गया है- "**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**"।[८] गीता में भी कहा गया है- नियमित रूप से कर्म करो।[९] कर्म न करने में आसक्ति नहीं होनी चाहिए।[१०] भर्तृहरि ने "आलस्य को मनुष्यों के शरीर में रहने वाला सबसे बड़ा शत्रु माना है और पुरुषार्थ को मित्र।"[११]

४. **चरैवेति का फल** - "जिस प्रकार माधुर्ययुक्त वृक्ष के बौर, फल से मधुमक्खी 'मधु' प्राप्त करती है, उसी प्रकार सतत संचरणशील व्यक्ति कभी सुख, आनन्द को प्राप्त करता है, कभी स्वादिष्ट उदुम्बरादि फलों को प्राप्त करता है। अर्थात् तत् तत् देश के भोगविशेष को प्राप्त करता है।"[१२] उदुम्बर 'अञ्जीर' को कहते है। इसकी लकड़ी पवित्र मानी जाती है। यज्ञ की समिधाओं के लिए इसका प्रचुर प्रयोग होता है। मधु और उदुम्बर सामान्य फलमात्र के प्रतीक हैं। विशेष फल सूर्य के समान देदीप्यमान हो जाता है।

मन्त्र के उत्तरार्ध में ऋषि कहते हैं कि "गतिशील सूर्य अनादि काल

---

[८] कठोपनिषद्, १.३.१४

[९] "नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥" - गीता, ३.८

[१०] ते संगोऽस्त्वकर्मणि। - गीता, २.४७

[११] "आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः। नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वा यं नावसीदति॥" - नीतिशतकम्, ८७

[१२] "चरन्वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्। सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् चरैवेति॥" - ऐ. ब्रा., ३३.३.५ तथा सायणभाष्य।

से इसी प्रकार देदीप्यमान है, वह कभी आलस्य नहीं करता। एक क्षण भी विश्राम नहीं करता। इसी प्रकार तेजोमय और स्फूर्त्ति से युक्त जीवन चाहने वाले को अनवरत गतिशील रहना चाहिए।"

रोहित पाँच वर्षों तक इन्द्र के 'चरैवेति' उपदेश का अनुसरण करके "छठे वर्ष अजीगर्त नामक ऋषि से मिला। अजीगर्त से सौ गोओं के बदले उसके पुत्र शुनःशेप को ले आया और स्वयं को वरुण से छुड़ा लिया"। इस 'चरैवेति' प्रसङ्ग का अभिप्राय यही है कि यदि हरिश्चन्द्र कुछ प्रयत्न करता, अकर्मण्य बैठकर वरुण को बहानों से न टालता तो वह अवश्य ही अपने पुत्र को बचा लेता और वरुण को भी सन्तुष्ट कर देता। उसकी अकर्मण्यता के कारण ही उसे भयानक जलोदर रोग हो गया। दूसरी ओर अपनी रक्षा के प्रयास में निरन्तर सञ्चरणशील रोहित अपनी रक्षा का उपाय ढूँढने में सफल हो गया।

इस प्रकार 'चरैवेति चरैवेति' सूत्र के अवलम्बन से विद्यार्थी, युवा, वृद्धादि स्वस्थ शरीर, शांत चित्त से जीवन में श्री-समृद्धि को प्राप्त करते हैं। अतः आज भी इन्द्र-रोहितोपदेश के निहितार्थ को अपनाने से व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, दैशिक एवं वैश्विक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति निश्चित है।

व्याकरण विद्या का मूल : वेद

डॉ. अभिमन्यु[१]

भाषायी इतिहास की दृष्टि से संस्कृत का इतिहास बहुत प्राचीन तथा इसकी ऐतिहासिक परम्परा विश्व की सभी भाषाओं से अधिक दीर्घकालीन है। यद्यपि आधुनिक भाषावैज्ञानिक विकासवाद सिद्धान्त के आधार पर संस्कृत भाषा का उद्गम भारोपीय मूलस्रोत से सिद्ध करते हैं। तद्नुसार प्रागैतिहासिक काल में संस्कृत से पूर्व कोई इतर भाषा (इण्डोयूरोपियन) बोली जाती थी। उसी में परिवर्तन होकर संस्कृत भाषा की उत्पत्ति हुई, किन्तु इससे पूर्व भारतीय परम्परा में इसका उद्गम वैदिक भाषा (वेद) से ही माना जाता रहा है।[२] स्वयं ऋग्वेद और काव्यादर्श में

---

[१]**सहाचार्य, संस्कृत विभाग,कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी**

[२](क) हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम्।
देवो देवानां गुह्यानि नामाविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे॥ ऋ.९/९५/२

(ख) वृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरतद् नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रैणा तदेषां निहितं गुहाविः॥ वही, १०/७१/१

(ग) सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेद शब्देभ्यः एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु.१/२१

(घ) अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः॥ महा. शान्तिपर्व, २३१/५६

इसे 'दैवी वाग्' कहा गया है।[3] क्योंकि यह बहुत ही सामान्य नियम है कि मानव में ज्ञान बिना भाषा के नहीं हो सकता, और भाषा बिना ज्ञान के नहीं रह सकती। भाषा और ज्ञान में अविनाभाव सम्बन्ध है। एक की अनुपस्थिति में दूसरे का रहना असम्भव है। नवजात बालक भी कालन्तर में वही भाषा बोलता है, जो अपने माता-पिता और अन्य परिजनों, मित्रों तथा सगे-सम्बन्धियों से सुनता है। जो भाषा बालक के कान में पड़ती है, वही भाषा बोलता है। इसी कारण एक ही प्रदेश की भाषा में भिन्नता पायी जाती है।

पूर्वजों का यह आभाणक है कि- '**तीन कोस पर भाषा बदले, एक कोस पर पानी**' सर्वथा उचित ही है। अर्थात् बालक बिना सिखाये दूसरे की भाषा कदापि नहीं बोल सकता। जब वह बोल ही नहीं सकता तो भाषा की निर्मिति स्वयं कैसे कर लेगा? ऐतिहासिक तथ्यों से विदित होता है कि अकबर सदृश बादशाहों ने ऐसे परीक्षण किये कि-कुछ नवजात बालकों का पालन सर्वथा बाह्य जगत् से पृथक् रख कर किया, कालान्तर में इसी परिणाम पर पहुँचे कि- वे बालक सर्वथा गूँगे अर्थात् कुछ बोल ही नहीं सकते थे। अतः इस सिद्धान्त को स्वीकार करना ही होगा कि सृष्टि के आदि में ज्ञान (वेद) और भाषा एक साथ लेकर ही मानव समुदाय का प्रादुर्भाव इस जगत् में हुआ।

कुछ शताब्दी पूर्व तक यही समझा जाता था कि दर्शन एवं

(घ) दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः। वाक्य.१/१४६

(च) वेद भाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है। स.प्र., सप्तम समुल्लास और पूना प्रवचन, ५वां व्याख्यान

[3](क) दैवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति। ऋ., ८/१००/११

(ख) संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः। काव्यादर्श, १/३३

राजनीति के समान भाषा चिन्तन की दिशा में भी ग्रीक के लोग ही अग्रणी थे, किन्तु जब से यूरोपीय हमारे संस्कृत एवं भाषा विषयक ग्रन्थों से परिचित हुए तो उनके विश्लेषणात्मक अध्ययनों का निष्कर्ष यह रहा कि- वे निर्विवाद रूप से स्वीकार करने लगे कि भाषा विश्लेषण एवं विवेचन का जो कार्य प्राचीन भारत में किया गया था वह विश्व में कहीं और नहीं हुआ और अब तो इस तथ्य को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि किसी भाषा के मूलभूत तत्त्वों एवं उसकी संरचना को समझने के लिए जिस विश्लेषणात्मक पद्धति एवं प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, उसकी पूर्ण परिणति ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व भारत में हो चुकी थी। महाभाष्यकार के इस वचन[४] से यह स्वयं सिद्ध है कि भाषा की शुद्धता और अशुद्धता का ज्ञान एवं व्यवहार वैदिक परम्परानुयायी आर्यजनों को तभी से था, जब वे याज्ञिक कर्म में प्रवृत्त होते थे।[५]

वैदिक साहित्य में इन्द्र को आर्यों का महान् नेता स्वीकार किया गया था। उनके गुरु बृहस्पति थे। बृहस्पति, ब्रह्मा की शिष्य परम्परा में उत्पन्न महान् वैयाकरण और भाषातत्त्ववेत्ता थे। बृहस्पति द्वारा इन्द्र को उपदिष्ट प्रतिपदोक्त व्याकरण ज्ञान 'शब्द पारायण'[६] के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे हम भर्तृहरि के शब्दों में 'अविभाग व्याकरण'[७] कह सकते

---

[४]तेऽसुराः हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। महाभा.पस्प.

[५]यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो...। वही

[६]बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यंवर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। वही.

[७]तद्विभागाविभागाभ्यां क्रियमाणमवस्थितम्।
स्वभावज्ञैश्च भावानां दृश्यन्ते शब्दशत्तक्तयः॥
अनादिमव्यच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम्।

हैं।

ऋग्वेद के एक मन्त्र पर भाष्य करते हुए वेङ्कटमाधव का कथन है कि इन्द्र ने 'अव्याकृत भाषा'[८] का व्याकरण बनाया था। इस तथ्य की पुष्टि हमें उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य के उस प्रसङ्ग से मिलती है, जिसमें देवताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की कि इस वाक्-तत्त्व को खण्डशः विभाजित कर दे।[९] इन्द्र ने लोकभाषा के प्रतिक्षण वर्धमान रूप के अध्ययन में प्रथम बार प्रतिपदपाठात्मक व्याकरण की अनुपयोगिता को समझकर[१०] विश्लेषणात्मक (प्रकृति-प्रत्यय विभागात्मक) व्याकरण की रचना की। इन्द्र की इस प्रकार की पद्धति का प्रेरणास्रोत क्या है? इस विषय में ऋग्वेद में एक मन्त्र की ओर सङ्केत प्राप्त होता है।[११] भाष्यकार पतञ्जलि ने 'महादेव' शब्द की अभिव्यक्ति के प्रमाण में जिस मन्त्र (**चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा**) का उल्लेख किया है वह उपर्युक्त मन्त्र का पूर्ववर्ती है।

शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृति ॥
अविभागाद्विवृत्तानामभिख्या स्वप्रच्छुतौ।
भावत्वं तु विज्ञाय लिङ्गेभ्यो विहिता स्मृति ॥ वाक्य., १/१३५-१३७

[८]नुनुदे विवाचः... (ऋ., ३/३४/१०) पर वेंकटमाधव का भाष्य - वाचश्चाव्याकृता, वि-नुनुदे व्याचकार।

[९]वाग्वै पराच्याव्याकृताऽभवत्, ते देवा इन्द्रमब्रूवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति।... तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुच्यते। तै.स., ६/४/७
इस पर सायण भाष्य - तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्रकरोत्। सायण (तै.स., ६/४/७) पर

[१०]एवं हि श्रूयते-बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्त्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। महाभा.पस्प.

[११]त्रिधा हितं पाणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्र एकं सूर्यएकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः ॥ ऋ., ४/५८/४

अतः इस मन्त्र में निहित इस सत्य पर यदि पतञ्जलि की परम्परा में विचार करें, तब यह स्पष्ट होगा कि भाषा और व्याकरण के **त्रीणि निहिता गुहायाम्...** (ऋ.१/१६४/४५) में कथित तीन चरणों को 'पणियों' ने बहुत पहले पहचान लिया था। उनमें से दो को तो इन्द्र और विवस्वान् सूर्य ने स्वयं ही खोज निकाला था। तीसरे के लिए उन्होंने स्वयं श्रम करके उसका परिज्ञान प्राप्त किया तथा 'वेन' के एकाधिकार को समाप्त कर उसे उन्मुक्त किया।

भाषा के शुद्ध प्रयोग के सम्बन्ध में ऋग्वेद के इस मन्त्र का ऋषि कहता है - जैसे बुद्धिमान् लोग सत्तू को छाननी से छानकर प्रयोग में लाते हैं वैसे ही वे लोग वाक् को मन में छानकर सम्यक् विचार से निर्दोष बनाकर उसका प्रयोग करते हैं। ऐसी वाणी का प्रयोग करने वाले लोग सज्जन (मित्रवत्) होते हैं तथा इस प्रकार की वाणी कल्याणकर होती है।[१२] इसी प्रकार और कई मन्त्र प्राप्त होते हैं, जिनमें वाणी के गुणों, उच्चारण प्रक्रिया आदि की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है।[१३] इस प्रकार उपलब्ध वैदिक पाठों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य लोग शब्द रचना में पायी जाने वाली प्रकृति प्रत्यय की कल्पना से पूर्णतः परिचित थे।

वैदिक मन्त्रों के उत्तरवर्ती गोपथ ब्राह्मण का यह वचन[१४] इस तथ्य

---

[१२]सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।

अत्र सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥ वही, १०/७१/२

[१३](क) वाचं वाचं जरितू रत्निनीं कृतमुभा शंसं नासत्यावतं मम॥ वही, १/१८२/४

(ख) वाचं सुमित्रवरुणाविरावतीं पर्जन्यश्चित्रं वदती त्विषीमतीम्। वही, ५/६३/६

(ग) दैवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति। वही, ८/१००/११

[१४]ओङ्कारं पृच्छामः, को धातुः, कि प्रातिपदिकम्, कि नामाख्यातम्, कि लिङ्ग, कि वचनं, का

की ओर स्पष्ट संकेत करता है कि उस समय व्याकरण विषयक विचार एक परिपक्व अवस्था तक पहुँच चुका था और इनमें से सभी संज्ञायें पाणिनि एवं पूर्वोत्तरवर्ती आचार्यों ने यथावत् अपनायी हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में विभक्ति के रूप में सप्तधा विभक्त वाणी[१५] का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद[१६] में विभक्तियों के सन्दर्भ में हम इस प्रकार उल्लेख पाते हैं- ये जो इक्कीस प्रकार के शब्द अर्थात् सात विभक्तियाँ और प्रत्येक के तीन-तीन वचन भाषा के समस्त रूपों को धारण करते हैं। हे वाचस्पते वाणी के स्वामिन् परमात्मन् या आचार्य! मेरे शरीर में उनके बलों को धारण करवायें अर्थात् मुझे सभी शब्दों के रूप प्रयोग करने का सामर्थ्य प्राप्त हो ।

द्वितीय मन्त्र का तात्पर्य है कि - हे वाणी के स्वामिन्! आप दिव्य गुणों वाले मन के साथ मुझे प्राप्त होइये। आप का ज्ञान शब्दों के माध्यम से मेरे अन्दर प्रवेश करे और जो मैं सुन लूँ उसे कभी भी नहीं भूलूँ।

“पदों का खण्डशः विभाजन (व्याकरण) एवं शब्द व्युत्पत्ति के लिए मूल धात्वर्थ तक पहुंचने की प्रवृत्ति के भी पर्याप्त सङ्केत वैदिक

विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वरः, उपसर्गो निपातः, कि व्याकरणं, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कति वर्णः, कत्यक्षरः, कति पदः, कः संयोग, कि स्थानानुप्रदानकरणं, शिक्षका किमुच्चारयन्ति, कि छन्दः, को वर्ण, इति पूर्वे प्रश्ना अथोत्तरे मन्त्र... एतैरोङ्कारं व्याख्यास्यामः। गो.ब्रा.पूर्व., १/२४

[१५]सप्तधा वै वागवदत्। ऐ.ब्रा., ७१/७। सप्त विभक्तय इति भट्टभास्करः। तुलनीय- यस्य ते सप्त सिन्धवः...। ऋ., ८/६९/१२। सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः। महाभा.पस्प.

[१६] ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि विभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥
पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ अथर्व. १/१/१-२

साहित्य में प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ - 'इन्द्र' के लिए '**पुरा दर्त्ता**', '**पुरां दर्दिः**', '**पुरा दर्मा**' जैसे प्रयोगों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग शब्द रचना में पायी जाने वाली प्रकृति प्रत्यय की परिकल्पना से पूर्णतः परिचित थे। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रत्ययों या कारकों के कारण एक ही मूल से निष्पन्न शब्दों के अर्थ में होने वाले अन्तर की ओर भी कई सङ्केत पाये जाते हैं। यथा - ऋग्वेद संहिता में 'क्षि' धातु से अधिकरण में निष्पन्न '**क्षिति**' को निवासार्थक (८/८८/७) तथा कर्म में निष्पन्न 'क्षिति' को शासनार्थक कहा गया है (५/३७/४)। व्युत्पत्तिपरक तत्त्वों का यह रूप वैदिक संहिताओं में उत्तरोत्तर स्पष्ट होता जाता है।"[१७] महाभाष्यकार पतञ्जलि द्वारा उद्धृत पाँच मन्त्र[१८] और उनकी व्याकरणपरक व्याख्या से यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है। पतञ्जलि से प्राचीन आचार्य यास्क भी "**चत्वारि वाक् परिमिता पदानि...**" (१/१६४/४५)[१९] मन्त्र की व्याख्या व्याकरणपरक ही करते हैं। विद्वानों ने व्याकरण शब्द जिससे बना है, उसका मूल यजुर्वेद के एक मन्त्र को स्वीकार किया है। इस मन्त्र से यह भी प्रेरणा मिलती है कि जैसे प्रजापति ने सत्य और असत्य को पृथक् किया, सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा को स्थापित किया। यहाँ सत्यासत्य का विश्लेषण ही प्रकृति और प्रत्यय के विश्लेषण का

---

[१७]स.का.ऐ.सं.प. (पृ.४-५) डॉ. देवीदत्त शर्मा।

[१८](क) चत्वारि वाक् परिमिता पदानि...। ऋ., १/१६४/४५

(ख) चत्वारि शृंगात्रयोऽस्य पादा...। वही, ४/५८/३

(ग) उत त्वः पश्यन्नददर्शवाचम्...। वही, १०/७१/४

(घ) सुदेवोऽसि वरुण...। वही, ८/६९/१२

(घ) सक्तुमिव तितउना पुनन्तो...। वही, १०/७१/२

[१९]चत्वारि वाक्-नामाख्याते चोपसर्गनिपातश्चेति वैयाकरणाः। नि., १३/९

आधार है।[२०]

वाल्मीकीय रामायण से विदित होता है श्रीराम के समय व्याकरण का सुव्यवस्थित पठन-पाठन होता था। वायु पुत्र को शब्द शास्त्र विशारद कहा गया है।[२१] यास्क का निरुक्त यद्यपि एक निर्वचन शास्त्र है तथापि इसके रचयिता ने इसे व्याकरण का एक प्रमुख अंग, पूरक माना है।[२२] वेदाङ्गों के रूप में निरुक्त-अर्थनिर्वचन शास्त्र है जबकि व्याकरण-शब्दनिर्वचन शास्त्र है। यद्यपि दोनों पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु दोनों ही शास्त्रों में पारस्परिक अटूट सम्बन्ध है। एक दूसरे का विकास पारस्परिक विकास का परिचय देता है। निरुक्त में अनेक वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है।[२३] सभी शब्दों को आख्यातज[२४] मानने वाले मूर्धाभिषिक्त आचार्य शाकटायन का व्याकरण[२५] भी यास्क से पूर्व ही बन चुका था। महाभाष्यकार का यह वचन[२६] हमें इस तथ्य से भली-भाँति अवगत कराता है कि संस्कृत व्याकरण की जड़ें सुदूर प्राचीन काल में विद्यमान थीं। युधिष्ठिर मीमांसक का यह विचार है कि त्रेता युग के आरम्भ में व्याकरणशास्त्र ग्रन्थ रूप में सुव्यवस्थित हो चुका था।[२७]

---

[२०] दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥
यजु., १९/७७

[२१] नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्यवहारतानेन न किञ्चिदपभाषितम्॥ वा.रा., किष्क.का., ३/२९

[२२] तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्...। नि., १/५/१३

[२३] 'न सर्वाणि' इति गार्ग्यो वैयाकरणानाञ्चैके। नि., १/४/११

[२४] तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। वही, १/४/११

[२५] अनुशाकटायनं वैयाकरणाः, उपशाकटायनं वैयाकरणाः। काशि., १/४/८३, ८८

[२६] पुराकल्प एतदासीत् संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। महाभा.पस्प.

[२७] स. व्या. शा. इ., भाग- १, पृ.६४

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि व्याकरण विद्या का मूल वेदों में विद्यमान है और वैदिक ऋषि व्याकरणात्मक तथ्यों से पूर्णतया परिचित थे। यद्यपि वेदों का विषय व्याकरण का साक्षात् उपदेश करना नहीं है किन्तु वेदों में व्याकरणिक तत्त्वों का सर्वथा उल्लेख प्राप्त होता है और परवर्ती काल में उसका विस्तार हुआ जो शास्त्र के रूप में उपलब्ध होता है। वैदिक साहित्य इसका स्पष्ट प्रमाण है।

वेदों में पुरुषार्थवाद के माध्यम से आत्मनिर्भरतापरक चिन्तन

डॉ. भावप्रकाश गांधी 'सहृदय'[१]

प्रस्तावना

विगत कुछ वर्षों में और विशेषत: इस करालकोराना काल में हमारे मध्य कुछ नए शब्द और उनके तात्पर्य कर्णकुहर में विद्युत् वेग की तरह दिन - प्रतिदिन अनायास व्याप्त हो रहे हैं - उन में से एक शब्द आत्मनिर्भरता भी है। भारत के यशस्वी प्रधानमन्त्री के मुखारविन्द से संस्कृत के एक श्लोक के माध्यम से कहा गया यह शब्द आज एक आन्दोलन और क्रान्ति का कार्य कर रहा है। पहले तो संस्कृत श्लोक के माध्यम से कहे गए इस शब्द ने और पुन: कोविड काल में किसी प्रमाणित एलोपैथी औषध की अनुपलब्धता ने और साथ ही निराशा और स्वजनहानि जैसे दु:खातिशय की स्थिति ने सब को समृद्ध संस्कृत वाङ्मय की ओर देखने को विवश कर दिया है। अभिवादन से लेकर प्राणायाम, आहार, विहार, विचार तक सब क्रियाओं में हमारी प्राचीन परम्परा का

[१] प्राध्यापक - संस्कृत, सरकारी विनयन महाविद्यालय - गांधीनगर

स्वीकार कर आश्रय और अनुकरण करते हुए भारत ही नहीं संपूर्ण विश्व के मानवों ने भारतीय संस्कृति और संस्कृत के शास्त्रों के प्रति लोगों की आस्था और विश्वास का भाव रखते हुए संस्कृतज्ञ महानुभावों से अपेक्षा रखी हुई है। ऐसे में संस्कृत के लोगों का स्वाध्याय और अनुसन्धान महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आत्मनिर्भरता के सम्बन्ध में वेदों का क्या अभिप्राय है, इस विषय को मैं अपने स्वाध्यायशोधपत्र में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करुंगा।

आत्मनिर्भरता का अर्थ

सर्वप्रथम हम आत्मनिर्भर शब्द को व्याख्यायित करने का प्रयत्न करते हैं। सामान्यत: आत्मनिर्भर एक विशेषण और यौगिक शब्द है। यहाँ दो शब्द हैं- आत्म और निर्भर। अब हम एक-एक शब्द को समझने का प्रयास करते हैं।

आचार्य यास्क ने आत्म शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है - आत्मा 'अत सातत्यगमने'इस धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है सतत चलना। यह शब्द अत+मनिन् से बना है। यहाँ अत् धातु का अर्थ है सतत गमन अथवा गतिशीलता। कृदन्त प्रत्यय 'मनिन्'भाववाचक संज्ञा बनाता है। प्रयोग करते समय मनिन् का मन् शेष रहता है, इस प्रकार शब्द बना आत्मन्। आत्मन् नकारान्त (न् से अंत होने वाला) पुल्लिङ्ग शब्द है। कर्त्ता कारक एक वचन में यह शब्द 'आत्मा' बनता है। इस प्रकार आत्मा का सरल अर्थ हुआ 'जो सतत गतिशील है। वामन शिवराम आप्टे अपने शब्दकोश में १८ अर्थ बताये हैं।[२]

---

[२]१. आत्मा, जीव किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत्। हितोपदेश-१

२. स्व, आत्म इस अर्थ में प्रायः यह शब्द तीनों पुरुषों (प्रथम, मध्यम एवं उत्तम) में तथा

आत्मनिर्भर का दूसरा शब्द है निर्भर निर्भर शब्द बना है- निर्भृज्+अच् से। यहां निर् उपसर्ग है। निर् उपसर्ग रहित या निषेध अर्थ में प्रयोग किया जाता है। जैसे- निर्जन (जन रहित), निरपराध (अपराध रहित), निराकार (आकार रहित), निर्मल (मल रहित), निर्णय (नय अर्थात् ले जाना/गति, निर्णय अर्थात् गति रहित जहाँ विचार रुक गया वही निर्णय है) आदि। भृञ् धातु का अर्थ है- भरण या पालन (भ्वादिगण) भृञ् धातु के साथ अच् अर्थात् स्वर जोड़ने पर रूप बनेगा- 'भर'। निर्+भर= निर्भर का अर्थ हुआ... के बिना पालन रहित। जब कहा जाता है कि 'रमेश मोहन पर निर्भर है' तो इसका अर्थ होता है- रमेश का पालन या भरण मोहन के बिना नहीं है। अंत में हम समझ सकते हैं कि आत्मनिर्भर अर्थ हुआ के बिना पालन नहीं अपना पालन हम स्वयं करें।

आत्मनिर्भरता का तात्पर्य

आजकल आत्मनिर्भर शब्द हम कई सन्दर्भों में बहुधा सुनते रहते हैं । इस शब्द को लोग निजी तौर पर आजीविका और राष्ट्रीय स्तर पर अर्थव्यवस्था व आर्थिक परिप्रेक्ष्य में ही ग्रहण करते हैं। सामान्यरूप से आत्मनिर्भरता स्वयं की हर क्षेत्र की क्षमताओं पर पूर्ण भरोसा करके

पुल्लिंग एक वचन में प्रयुक्त होता है, चाहे उस समाज शब्द का लिंग, वचन जो भी हो। जैसे - आश्रमदर्शनेन आत्मानन्द पुनीमह शकुंतला नाटक-१

३. परमात्मा ब्रह्म तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। उत्तर रामायण १९.

४. सार, प्रकृति, ५. चरित्र, विशेषता, ६. नैसर्गिक प्रकृति, ७. व्यक्ति या समस्त शरीर, ८. मन, बुद्धि- महात्मन् या मंदात्मन् (महात्मा= जिसका मन या बुद्धि बड़ी है)। ९. समझ, १०, विचारण- शक्ति, विचार और तर्कशक्ति, ११. सप्राणता, जीवट, साहस १२. रूप, १३. प्रतिमा १४. पुत्र, १५. सूर्य, १७. अग्नि, १८. वायु

जीवन का निर्वाह करना कहलाती है। व्यापकरूप से देखने पर आत्मनिर्भरता का अर्थ है मानसिक, बौद्धिक, अध्यात्मिक व आर्थिक रूप से स्व पर निर्भर होना। इस आत्मनिर्भरता का अर्थ केवल इतना ही नहीं है। इसका अर्थ और भी ज्यादा व्यापक हो जाता है। आत्मनिर्भर होना हमें ज्यादा महत्त्वाकांक्षी बना देता हैं। इतना महत्वकांक्षी की हम हर प्रकार से मेहनत करने को तैयार रहते हैं। जिस तैयारी के कारण निर्भरता जीवन में धारण होती जाती है। ये धारणा वास्तव में मनुष्य तब कर सकता हैं, जब उसकी सोच स्वतंत्र बने। जब तक स्वतंत्र नहीं तब तक वो परतंत्र होकर निर्भरता को ला नहीं सकता। इन चारो प्रकार की निर्भरता को आत्मनिर्भरता में बदलना है। बदलाव असल में स्व की सोच परिवर्तन से होता है। प्रत्येक मनुष्य को आत्मनिर्भर होना चाहिए जिससे वो स्वयं की आवश्यकता अन्य किसी की सहायता के बिना पूर्ण कर सके। यह आत्मनिर्भरता हमारे अंदर विश्वास और आत्मसम्मान की भावना जागृत करती है। आत्मनिर्भरता न केवल स्वयं के किये किन्तु परिवार, समाज और देश के लिये भी हितकारी होती है।

यहाँ देश का आत्मनिर्भर होने से तात्पर्य यह है कि हमे अपनी जरूरतों का उत्पादन और निर्माण अपने देश मे ही अपने देश के लोगों के द्वारा किया जाये और बाहर से किसी चीज़ का आयात ना करनी पड़े और यहाँ की बनी चीज़े दूसरे देशों मे निर्यात हो ऐसा तभी संभव है जब यहाँ का नागरिक जागरूक होगा और मेहनत करके आत्मनिर्भर बनेगा क्योंकि एक देश तभी तरक्की कर सकता है और आत्मनिर्भरता हासिल कर सकता है जब वहाँ के नागरिक शिक्षित, योग्य, कर्मठ, प्रामाणिक और आत्मनिर्भर हों। इसीलिए हमें आत्मनिर्भरता के साथ साथ नीतिमान्

और प्रामाणिक बनने का भी प्रयत्न करना चाहिए।

आज के संदर्भ में देखें तो जिस वस्तु पर हम दूसरों के अधीन या निर्भर होते हैं, अपने कौशल्य विकास से उस वस्तु की कम मूल्य में उत्तम गुणवत्ता से प्राप्ति कराना ही आत्मनिर्भरता कहलाती है। वास्तव में यह शब्द मनुष्य के व्यक्तिगत उत्थान से अपने पुरुषार्थ से सिद्धि प्राप्त कर राष्ट्र के विकास तक ग्रहण किया जाना चाहिए। हम इस तथ्य को अतीत के उपलब्ध साहित्य या अन्य स्रोतों के माध्यम से गवेषित करते हैं तो अनायास हमारा ध्यान सर्वज्ञानमय वेदों की ओर जाता है। **उद्यानं ते पुरुषं नावयानम्** और **उत्क्राम महते सौभगाय**[३] जैसे वेदवाक्य हमें आत्मनिर्भर होने के लिए सतत प्रेरित करते हैं। आज की परिभाषाओं के आधार पर हम वेदों में आत्मनिर्भरता को देखने का प्रयास करते हैं तो निश्चय यह शोध मृगमरीचिका की भांति असफल होगा। एतदर्थ हमें प्रकारान्तर से आत्मनिर्भरतापरक सूत्रों का अन्वेषण करना आवश्यक बन जाता है।

वेदों की महत्ता और आवश्यकता

भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति है। अन्य देशों की संस्कृतियाँ तो समय की धारा के साथ-साथ नष्ट होती रही हैं, किन्तु भारत की संस्कृति आदि काल से ही अपने परम्परागत अस्तित्व के साथ अजर-अमर बनी हुई है। इसकी उदारता तथा समन्यवादी गुणों ने अन्य संस्कृतियों को समाहित तो किया है, किन्तु अपने अस्तित्व के मूल को सुरक्षित रखा है। तभी तो पाश्चात्य विद्वान् अपने देश की संस्कृति को समझने हेतु भारतीय संस्कृति को पहले समझने का परामर्श देते हैं

[३] यजु. ११.२१

इस संस्कृति के पीछे एक सशक्त, प्राणवान् और सक्षम विचारधारा थी। इसी सशक्त, प्राणवान् विचारधारा का ही तो नाम वेद है।

मनुमहाराज वेदों को सर्वज्ञानमय, सनातन चक्षु और विश्व को पथप्रदर्शन करने का सर्वोत्तम साधन मानते हैं। भारतीय संस्कृति के उच्छ्वास वेद है समस्त समाज और अवान्तर साहित्य तो वेदों से ही अनुप्राणित है। भारतीय संस्कृति में आश्रम-व्यवस्था के साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे चार पुरुषार्थों का विशिष्ट स्थान रहा है। वस्तुत: इन पुरुषार्थों ने ही भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का एक अद्भुत समन्वय कर दिया। हमारी संस्कृति में जीवन के ऐहिक और पारलौकिक दोनों पहलुओं से धर्म को सम्बद्ध किया गया था। धर्म उन सिद्धान्तों, तत्त्वों और जीवन प्रणाली को कहते हैं, जिससे मानव जाति परमात्मा प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना लौकिक जीवन सुखी बना सके तथा मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा शान्ति का अनुभव कर सके। शरीर नश्वर है, आत्मा अमर है, यह अमरता मोक्ष से जुड़ी हुई है और यह मोक्ष पाने के लिए अर्थ और काम के पुरुषार्थ करना भी ज़रूरी है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में धर्म और मोक्ष आध्यात्मिक सन्देश एवं अर्थ और काम की भौतिक अनिवार्यता परस्पर सम्बद्ध है। आध्यात्मिकता और भौतिकता के इस समन्वय में भारतीय संस्कृति की वह विशिष्ट अवधारणा परिलक्षित होती है, जो मनुष्य के इस लोक और परलोक को सुखी बनाने के लिए भारतीय मनीषियों ने निर्मित की थी। भारतीय संस्कृति के इस आध्यात्मिक एवं भौतिक समन्वय को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। इस प्रकार वेदों को मानवमात्र के अभ्युदय एवं नि:श्रेयसरूप अत्यंत सुख की संजीवनी मानना अतिशयोक्ति नहीं कहा जाएगा।

वेदों में आत्मनिर्भरतापरक चिन्तन

वेदों में आत्मनिर्भरता से सम्बद्ध विचार आधुनिक आत्मनिर्भरता की व्याख्या से भिन्न रूप से ढूंढने पर ही प्राप्त हो सकते हैं। इस हेतु हमें श्रद्धा और आस्था के साथ युक्ति और तर्क के आधार पर गवेषणा करनी चाहिए। आचार्य यास्क लिखते हैं -

पुरस्तान्मनुष्या वा ऋऋषिषूक्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिम्प्रायच्छन्।

अर्थात् जब ऋषिगण पृथ्वी से जाने लगे तो मनुष्यों ने देवों से पूछा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा? देवों ने उनके लिए तर्क को ही ऋषि बनाकर भेजा। मनु की इस स्पष्ट उद्घोषणा भी इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है- यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः। अर्थात् जो तर्क से धर्म का अनुसंधान करता है, वही वास्तविक धर्म को जान सकता है। इस प्रकार आत्मनिर्भरता को हम वैदिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में यथार्थ पुरुषार्थवाद के सन्दर्भ में देख सकते हैं। वैदिक पुरुषार्थवाद का इससे बड़ा क्या प्रमाण होगा कि यहाँ यजुर्वेद के ऋषि जीवन का रहस्य समझाते हुए हमें पुरुषार्थ करते हुए सौ वर्ष तक जीने का उपदेश प्रदान कर रहे हैं।[४] आधुनिककालीन आत्मनिर्भरता के स्रोत पुरुषार्थ की अपेक्षा भाग्यवाद पर अधिक निर्भर हैं तथा आज के स्रोत हमें नीतिमत्ता से दूर येन केन प्रकारेण स्वार्थी बनाते जा रहे हैं। चाहे शेयर बाजार ले लीजिए या फिर कोई भी उद्योग वहां पुरुषार्थ करने पर भी अन्ततोगत्वा भाग्य पर आधारित रहना पड़ता है साथ में नैतिक मूल्यों का सर्वथा अभाव और स्वयं के लाभ में अन्यों को हानि या शोषण के गर्त में ले जाने वाले होते

---

[४]यजुर्वेद - ४०.२

हैं। वेद के उपदेश सतत हमें सुपथा नीतिमार्ग पर चलाते हुए शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक उन्नति की भावना के साथ पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देते हुए प्रतीत होते हैं। यजुर्वेद के एक मन्त्र में आत्मनिर्भरता के सन्दर्भ में मनुष्य को कहा गया है कि हे मनुष्य तू पुरुषार्थ से अपने शरीर को, मन को और इन्द्रियों को दृढ बना। तेरे सिवा कोई अन्य कोई यह नहीं कर सकता।

स्वयं वाजिस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे॥[५]

वैदिक पुरुषार्थवाद के सिद्धान्त में पुरुषार्थचतुष्टय धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को प्राप्त करने की भावना पल्लवित-पुष्पित और फलित हुई है। वेदों का यह आत्मनिर्भरतावाद इहलोक के साथ परलोक के उद्धार का मार्ग प्रशस्त करता है। वेद आत्मनिर्भरता के लिए आवश्यक कर्तव्यबोध, नीतिमत्ता, कर्मण्यता, जागृति, शुभसङ्कल्प और सर्वजनसुख सर्वजनहित की भावना को आवश्यक मानता हैं। वेद में कहीं भी निराशा, भाग्यवाद, पुरुषार्थहीनता और अकर्मण्यता का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। वेद में पदे पदे उत्साह, आशावाद, सकारात्मकता, परिश्रम और पुरुषार्थवाद दृष्टिगोचर होता है।[६]

वेदाधारित पुरुषार्थप्रधान विचारधारा पर चिन्तन करें तो स्पष्टतया ज्ञात होता है कि यहां मानव को अत्यन्त गौरव प्रदान किया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है -

---

[५]यजु. २३.१५

[६]कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। गोजिद्भूयासमश्वजिद्धनं जयो हिरण्यजित्॥ अथर्व. ७.५०.८

स्त्रक्त्योसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥[७]
सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानौऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥[८]
शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥[९]

हे जीव! तुम विद्वान् हो, वीर हो, दोषदमन में सक्षम हो, शक्ति के असीम भण्डार हो, पवित्र हो, बलवान् हो, तुम शुद्ध हो, तेजस्वरूप हो तथा ज्ञान से प्रकाशित हो। तुम अपने समान लोगों से आगे बढ़ यश और कल्याण को प्राप्त होओ। वेद में सन्तान के वीर और बलवान् होने की कामना की गई है - **अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु**।[१०] वैदिक संहिताओं में आशावाद का स्वर सर्वत्र सुनाई देता है -

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वौषधीः॥

वायु हमारे लिए मधु को प्रवाहित करती है, नदियाँ मधु बहा रही हैं, औषधियां भी मधुयुक्त हैं। यहाँ तक कि दिन और रात, द्यौ और पृथ्वी, सर्वत्र मधुर भाव ही व्याप्त है। अन्न और वनस्पतियाँ, प्राणदाता सूर्य और दुग्ध प्रदान करने वाली गौएँ भी मधु बरसाती हैं। यहाँ हताशा और अवसाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

---

[७] अथर्व. २.११.२

[८] अथर्व. २.११.४

[९] अथर्व. २.११.५

[१०] ऋग्. १०.१०३.११

वैदिक पुरुषार्थवाद का या आत्मनिर्भरता का इससे बढ़ कर प्रमाण और क्या होगा कि यहाँ मनुष्य को सौ वर्ष जीवित रहकर पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी गई है। **शतमिन्नु शरदो अन्ति देवाः।**[११] **तथा तच्चक्षुर्देवहितं...।**[१२]

वैदिक जीवन मीमांसा में धर्म के साथ अर्थ और काम को समुचित महत्त्व प्रदान किया गया है। वनोपार्जन के लिए वेद का आदेश है- **शतहस्त समाहार सहस्रहस्त संकिर।** सैकड़ों हाथों से कमाओ और हजार हाथों से खर्च करो। आत्मनिर्भरता को हम जहां अर्थ से ही सम्बद्ध मानते हैं उस के विषय में वेद में धन या ऐश्वर्य नीतिमत्ता से और प्रामाणिक साधनों से प्राप्त करने के लिए भी आदेश दिया गया है।

परि चिन्मर्तो द्रविणं ममन्यादृतस्य पथा नमसा विवासेत्॥[१३]

हमारे लिए कौन से कर्म नीतिमत्ता से युक्त हैं और कौन से कार्य हेय हैं इस सन्दर्भ में भी अक्षसूक्त सहित अन्य भी कई सन्दर्भ वेद में हमें प्राप्त हो जाते हैं। जुए, मांसाहार, मद्यपान जैसे कर्मों को छोड़कर कृषि, गौपालन आदि कार्य जो सर्वजनहितकारी कार्य करने का निर्देश यहाँ दिया गया है।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥[१४]
यथा मासं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा तो अघ्न्ये मनोऽपि वत्से नि हन्यताम्॥[१५]

---

[११] यजु. ३५.२२

[१२] यजु. ३६.२४

[१३] ऋग्. १०.३५.२

[१४] ऋग्. १०.३४.१३

अर्थ की ही भांति काम को भी मनुष्य की सभी लौकिक प्रवृत्तियों का मूल माना गया है।

कामस्तदग्रे समवर्ततताग्रे मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

स कामकामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥[१६]

वैदिक चिन्तन में मनुष्य जीवन की सफलता उसके सर्वप्रिय होने में मानी है। अतः कहा गया है कि मनुष्य देवों, प्रजाओं, पशुओं और अपने समवयस्कों का प्यारा बने।[१७] अथर्ववेद एक मन्त्रशृङ्खला में मनुष्य को बार-बार कीर्ति, तेज और यश प्राप्त करने वाला कहा गया है-

यथा सूर्यो प्रतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम्।

एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥[१८]

उसी तरह एक स्थान पर निद्रा के वश न होने की तथा सर्वप्रिय और शूरवीर बनने की बात कही गयी है।[१९] जो मनुष्य कर्मण्य है उसे ईश्वर भी स्नेह करता है।[२०] जागृति ही आत्मनिर्भरता का प्रथम सोपान माना गया है। मेरी वाणी, प्राण, चक्षु, कर्ण, केश, दाँत, भुजा और पैरों के साथ मन और आत्मा के सुदृढ होने का सुंदर सन्देश वैदिक ऋषि देते हैं। क्योंकि वह जानते हैं आत्मनिर्भर होने के शरीर, मन और आत्मा का

---

[१५] अथर्व. ६.७०.१

[१६] अथर्व. १६-५२-१

[१७] प्रियो देवानां भूयासम्। प्रियः प्रजानां भूयासम्।
प्रियः पशूनां भूयासम्। प्रियः समानानां भूयासम्॥ अथर्व. १७.१.२.५

[१८] अथर्व. १०.३.१७-२५

[१९] त्रातारो देवा अधि वोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम॥ ऋग्. ८.४८.१८

[२०] इच्छन्ति देवा सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ ऋग्. ८.२.१८

स्वस्थ होना कितना आवश्यक है।[२१] यहीं शब्द आत्मनिर्भरता जैसा **'आत्मानिर्भृष्टः'** शब्द हमें प्राप्त होता है।

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि वेद की दृष्टि बुद्धि, विवेक और मानवी प्रजा को जागृत करती है। यहाँ अन्ध-धारणा, मूढ़ विश्वास, कूपमण्डकत्व एवं गतानुगति के लिए कोई स्थान नहीं है। इसीलिए वैदिक उपासक अग्निस्वरूप दिव्य एवं तेजस्वी परमात्मा से उस मेधा बुद्धि की कामना करता है जो हमारे प्राक् कालीन देवों, पितरों, मनीषियों और विद्वानों द्वारा धारण की जाती रही है। मेधा की यही प्रार्थना हम वरणीय वरुण तेजोनिधान अग्नि, बलशाली इन्द्र तथा सर्वाधार धाता परमात्मा से भी करते हैं- **'यां मेधां देवगणाः '**[२२] तथा **'मेधां मे वरुणो ददातु।'**[२३]

मानवी जीवन की सार्थकता पारस्परिक आदान-प्रदान के कारण है। **"केवलाघो भवति केवलादी"** के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला वेद कहता है-

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।[२४]

तू मुझे दे और मैं तुझे दूँ। तू मुझ में उत्तम गुण धारण करा और मैं तुझे उत्तम आदर्श प्रदान करूं। वैदिक अध्यात्मवाद में परम तत्त्व को महान पुरुष, आदित्य तुल्य प्रकाशमान तथा अन्धकार से परे कहा गया है- **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्।'**[२५]

---

[२१] वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः। अपलिताः केशा अशोणादन्ता बहुबाह्वोर्बलम्॥ ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः। प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः॥ अथ. १९.६०.१-२

[२२] यजु. ३२.१४

[२३] यजु. ३२.१५

[२४] यजु. ३.५०

[२५] यजु. ३१.१८

हमारा मध्यकालीन चिन्तन बहुत कुछ पारलौकिक फलों की कामना पर बल देता रहा जबकि वेद की दृष्टि इसी लोक में आनन्द, आमोद-प्रमोद तथा अमृत की कामना से युक्त रही है-

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद ग्रासते ।

कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि ॥[२६]

इसी प्रकार वेद आगे बढ़ना और ऊपर ऊठने को मानव जीवन के ध्येय के रूप में स्वीकार करता है। इस प्रकार वेद आजीवन प्रयत्न करने को सन्देश देता है।

राष्ट्रीय सन्दर्भ में हम आत्मनिर्भर होने की जब बात करते हैं तब वेदादि शास्त्र हमें सर्वप्रथम हमें हमारे अन्दर निहित शक्ति का उद्बोधन कराते हैं। मनुष्यों अपने जीवन में आई कठिनाईयों को, अवरोधों को रोकने के लिए, जीतने के लिए या पार करने के किए सामूहिक प्रयत्न करने चाहिए- **बहूनाम् अल्पसाराणां संहतिः कार्यसाधिका।** पत्थरों से भरे हुए पर्वतों के ढलान पर से नीचे गिरते झरने जैसे जीवन को जीने के योग्य साथी सहायकों की आवश्यकता होती है। इसीलिए वेद सामूहिक प्रयत्न करने की आज्ञा देता है-

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः ये शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥[२७]

कुछ इसी तरह के मन्त्र आंशिक परिवर्तन के साथ यजुर्वेद[२८] और अथर्ववेद[२९] में भी हम देख सकते हैं। परोक्ष रूप से स्वयं परिश्रम से

---

[२६] ऋग्. ९.११३.११

[२७] ऋग्. १०.५३.८

[२८] यजु. ३५.१०

[२९] अथर्व. १२.२.२६

आत्मनिर्भर हो कर सामूहिक रूप से पुरुषार्थ से राष्ट्र को विकसित और आत्मनिर्भर बनाने का सन्देश हम इन मन्त्रों में देख सकते हैं। इस विघ्नसभर वेगवती जीवनसरिता को सपुरुषार्थ साथ मिलकर पार करने पर ही जीवन की सार्थकता बताई गई है।

शतपथ ब्राह्मण की मानें तो जातिगत रूप से भारतवासी भरत नाम वाली अग्नि के उपासक समुदाय के उत्तराधिकारी हैं (भरतो अग्नि: इत्याहु:) अर्थात् तेज उनका आंतरिक गुण है। यह संभरण करने वाली आग है। इस राष्ट्रीय तेज:शक्ति का विकास जागृति से ही सम्भव है। आप विश्व का कोई भी इतिहास देख लीजिए जो जागता रहा है उसने संपूर्ण विश्व का नेतृत्व करते हुए पथप्रदर्शन का अनुपम कार्य किया है। यजुर्वेद यह संकल्प लेता है- वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता: अर्थात् हम सब अग्रसर होकर राष्ट्र को जागृत करें। सामवेद तो जागृति का महत्त्व समझाते हुए डिण्डिम घोष करता है-

यो जागार तमृच: कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका:॥

अथर्ववेद का उद्घोष है कि है 'उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावत' उत्तम प्रजाजनों से राष्ट्र उत्तम रहता है। रोचक तथ्य यह भी है कि वैदिक युग में भी सामाजिक विविधता थी, अनेक भाषा बोलने वाले और अनेक धर्मों को मानने वाले थे (जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणां पृथिवी यथौकसम्) परंतु सभी मिलकर मातृभूमि को शक्ति देते हैं और उसकी समृद्धि करते हैं। उनके मन में यह भावना है कि यह धरती माँ है और हम सब उसकी संतान हैं- माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:। अथर्ववेद का भूमिसूक्त इस राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में (१२.१) मातृभूमि की महिमा, उसके नैसर्गिक सौन्दर्य तथा उसमें रहने वाले मनुष्यों की भाषा, संस्कृति, कला, जीवन पद्धति, विचार सम्पदा तथा भाव सम्पत्ति का जैसा हृदयग्राही चित्रण मिलता है, वैसा अन्यत्र संसार के किसी साहित्य में दुर्लभ ही है। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'की घोषणा करने वाला राष्ट्र का नागरिक और भूमि का पुत्र इस धरती को विश्वम्भरा, वसुधानी, हिरण्यवक्षा तथा प्रतिष्ठा जैसे सम्बोधन से सम्बोधित करता है। इस धरती की शिलाएं, प्रस्तर खण्ड तथा धूलिकण सब कुछ उसके लिए सुखद बन जाते हैं क्योंकि यह पृथ्वी सम्यक् प्रकार से धारण की जाती है। यहां के वृक्ष और वनस्पतियां, यहां की लोहित, कृष्ण और बभ्रु वर्ण युक्त धरा उसके लिए प्रादरणीय और वंदनीय है। यही वह धरती है जिस पर उसके पूर्वजों ने विचरण कर अपने वीरतापूर्ण और गौरवयुक्त कृत्य किए थे, यहीं पर उन्होंने आसुरी संस्कृति को पराजित किया था ।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।

यही पृथ्वी गौ और अन्य प्राणियों की शरणदात्री है- **गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा**। इसी मातृभूमि से ऐश्वर्य और वर्चस् की कामना, याचना करते हैं - **भगं वर्च पृथिवी नो दधातु**।

इस धरती पर किये गये पूर्वजों के नृत्यों और गीतों की ध्वनि हमारे कर्ण कुहरों में समाई हुई है। वैदिक ऋचाओं का गान करने वाले विजों के स्तोत्र पाठ और सामगान आज भी हमारे मनों में पूत भावनाओं का पर करते हैं। वह पृथ्वी हमारे शत्रुओं को पराभूत कर हमें अभय बनाये। ६३ मन्त्रों में प्रभविष्णु शैली में लिखा गया धरती माता का यह गीत वेद के अत्यन्त स्त्री एवम् उदात्त स्थलों में से एक है। ऋग्वेद में 'समानो मंत्रः

समिति: समानी समानं मन: सह चित्तमेषां '[३०] आदि मंत्रों का स्पष्ट अभिप्राय राष्ट्र की सजीव एकता को रेखांकित करता है। विचार, संकल्प, चित्त सबमें समान होने का आह्वान है। समान मन के साथ ऐक्य भाव से आनंदपूर्वक रह सकना संभव है- समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति।[३१] ठीक ऐसे ही विचार हमें अथर्ववेद में भी प्राप्त होते हैं।[३२] राष्ट्र के उत्थान हेतु वहीं कहा गया है कि जिस प्रकार धनुष् से बाण छोड़ दिए जाते हैं वैसे ही अपने अन्दर क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों का त्याग करो और समान मनवाले हो जाओ।

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृद:।
यथा सं मनसो भूत्वा सखायाविव सचावहै॥[३३]

तात्पर्य यह कि जीवंत राष्ट्र की अपेक्षा है ऐक्य और पारस्परिक सम्मान के भाव के साथ देश के प्रति उन्मुख होकर सक्रिय और स्वस्थ जीवन जिएं। राष्ट्र को आत्मनिर्भर हम तभी बना सकते हैं जब हम अपने संसाधन और संपत्ति को राष्ट्रहित हेतु क्षुद्र और अस्थायी सुख को छोडकर त्याग भावना के साथ उपभोग करें - तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:। राजा से लेकर प्रजा तक सब व्यष्टि से ऊपर ऊठकर समष्टि हेतु एक संकल्प, मन, बुद्धि से समान कार्य करें।

एक मन्त्र में कहा गया है कि परमात्मा को सभी को एक ध्येय और एक मन वाला बनाया है। इसी लिए आप पुरुषार्थ, कर्तव्यपालन,

---

[३०] ऋग्. १०.१९१.३

[३१] ऋग्. १०.१९१.४

[३२] सहृदयं साम्मनस्यम् अविद्वेषं करोमि व:।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ अथर्व. ३.३०.१

[३३] अथर्व. ६.४२.१

संगठित, परस्पर मधुरभाषी और सहायक बन कर स्वयं का और समाज, राष्ट्र का उत्थान करो।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो प्रावि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥[३४]

वेदों में साधन या शक्ति की केवल वृद्धि की बात नहीं है उसके साथ उन को समग्र मानवजाति और जीवों के लिए हितकारी होने का आग्रह रखा गया है। विनाशकारी और हानि करने वाले पदार्थ यदि आत्मनिर्भर बनाते हैं तो उनका वेद निषेध करते हैं।[३५]

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के निर्माण के साथ जब शिक्षाजगत् इस शिक्षा नीति को क्रियान्वयन की तरफ आगे ले कर जा रहा है ऐसे में शिक्षा नीति में निर्दिष्ट संदर्भ भारतीय प्राचीन शास्त्रों के पठन-पाठन हेतु प्रेरित कर रहे हैं, ऐसे में हमें पुनः वेदों को और उसमें निहित ज्ञान को सर्वजनसुलभ और नए दृष्टिकोण से देखने का तथा लोगों के समक्ष प्रस्तुत करने का एक स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ है। वेद के मन्त्रों में निहित ज्ञान को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से जोड़ते हुए हमें वेदों की उपादेयता को सिद्ध करने की अत्यंत आवश्यकता है। आज वेदों को न जानना, न समझना और वेदानुकूल श्रेष्ठ आचरण न करना समग्र मानव जाति के लिए घातक सिद्ध हो रहा है जिसका परिणाम संपूर्ण विश्व भुगत रहा है। भौतिकता की चकाचौंध में निमग्न संपूर्ण विश्व पिछले एक-दो वर्षों से कोरोना के

---

[३४] अथर्व. ३.३०.५

[३५] शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः।
मा द्यावापृथिवी अभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन्॥ यजु. ११.४५
शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा। शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥ अथर्व. ३.२८.३

विकराल स्वरूप से हताहत है ऐसे में समग्र विश्व भारत की तरफ और हमारे प्राचीन शास्त्रों की ओर आशापूर्ण दृष्टि से देख रहा है। ऐसी स्थिति में वेदादिशास्त्रों का पठन-पाठन, श्रवण-श्रवण हमारा परम कर्तव्य बन जाता है। हम स्वयं मानसिक, बौद्धिक और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनें और राष्ट्र को भी यथासंभव उन्नति के पथ पर ले जाएं। यही वैदिकमन्त्रों का निहितार्थ है। इस पतित पावनी श्रुति की यथासंभव रक्षा करें, प्रचार-प्रसार करें और इस नित्य ज्ञान को सर्वजन सुलभ बनाएं। मनुष्य इस पावमानी वेद गंगा में स्नान कर अपने दुर्लभ मानवजन्म को सार्थक करते हुए इस भूमंडल पर सुख, शांति, आनंद और प्रेम का साम्राज्य स्थापित करें ऐसी मंगल कामना करते हैं॥

शतपथ ब्राह्मण प्रतिपादित प्रजापति द्वारा दुहितृगमन आख्यायिका का विवेचन

देवप्रकाश[१]

शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञीय कर्मकाण्ड के द्वारा आधिदैविक रहस्यों को अलङ्कारिक रूप से वर्णित किया जाता है। यजुर्वेद कर्म से सम्बन्धित होने से उसका व्याख्यान भूत ब्राह्मण ग्रन्थ उन क्रियाओं के रहस्यों से भरा हुआ है। प्रस्तुत आख्यायिका रूपकालङ्कर के माध्यम से वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रन्थों में वर्णित है। उसी का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

शतपथ ब्राह्मण में यह कथा प्रथम काण्ड के सातवें अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में प्राशित्र हरण प्रकरण में वर्णित है। प्राशित्र ब्रह्मा के भाग का अवदान है। उस अवदान का जिस पात्र से हरण किया जाता है वह पात्र प्राशित्र हरण कहलाता है। वह पात्र दर्पण के समान गोलाकार या चमस के समान चतुष्कोण और मध्य में गर्त्त वाला होता है।[२]

---

[१] **शोधछात्र, वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

[२] प्रशित्रं ब्रह्मणो भागावदानम्। तत् ह्रियते येन पात्रेण तत् पात्रं प्राशित्रहरणम्।

आख्यायिका इस प्रकार वर्णित है कि एक बार प्रजापति ने अपनी पुत्री का पीछा किया कि मैं इसके साथ सङ्गम करूँ, वह उससे सङ्गत हो गया। वह पुत्री द्यौ अथवा उषा नामधेय है।[३] प्रजापति के इस कृत्य को देखकर देवता क्रुद्ध हो गये कि वह प्रजापति अपनी पुत्री तथा हमारी स्वसा के साथ जार कर्म करता है।[४] उन देवताओं ने पशुपति रुद्र को कहा कि यह प्रजापति मर्यादा का उल्लंघन कर रहा है, जो कि इस प्रकार अपनी पुत्री तथा हमारी स्वसा के साथ जारकर्म कर रहा है। अतः इसको दण्ड दिया जाये। रुद्र ने प्रजापति पर आक्रमण कर उसे बाण से विद्ध कर दिया। जिससे प्रजापति का वीर्य मध्य में स्खलित हो गया। जिससे वह वीर्य पतनोन्मुख ही था अतः स्खलित हो गया।[५] इसी अभिप्राय से ऋग्वेदीय श्रुति कहती है कि ''पिता प्रजापति ने अपनी पुत्री पर आक्रमण करके उसके साथ सङ्गम करते हुये पृथिवी पर अपने वीर्य का सेचन किया।[६] यह जो प्रजापति का वीर्य ही अग्निमारुत उक्थ (शस्त्र) है क्योंकि प्रजापति अग्नि स्वरूप है।[७]

अतः प्रजापति का वीर्य आग्नेय है, और उस वीर्य का स्कन्दन गतिशील मरूत के द्वारा ही होता है। अतः वह वीर्य अग्नि और मरुत दोनों

तच्चादर्शसदृशं वर्त्तुलं, चमससदृशं चतुरस्रंखातवच्च भवति॥ का.श्रो.सू. १/३/४०-४१

[३] प्रजापतिर्हवैस्वां दुहितरमभिदध्यौदिवं वा उषसं वा मिथुन्येन यास्यामिति। तां संबभूव। शत. १/७/४/१

[४] तद्वै देवानामाग आस य इत्थं स्वां दुहितरमस्माकं स्वसारं करोतीति। शत. १/७/४/२

[५] ते ह देवा ऊचुर्योऽयं देवः पशूनामीष्टे अतिसन्धं वा अयं चरति, य इत्थं स्वां दुहितरमस्माकं स्वसारं करोति, विध्येममिति। तं रूद्रोऽभ्यायत्यविव्याध। तस्य सामिरेतः प्रचस्कन्द, तथेन्नूनं तदास॥ शत.ब्रा. १/७/४/३

[६] पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः सञ्जग्मानो निषिञ्चत्। ऋ. १०/६१/७

[७] प्रजापतिरग्निः। शत. ९/१/१/१६

से सम्बन्धित होने के कारण आग्नीमारुत कहलाता है। इसी अग्न्यात्मक या सूर्यात्मक प्रजापति से सकल सृष्टि होती है। अतः आग्नीमारुत वीर्य को सृष्टि का उक्थ (प्रभव) कहा गया है। अग्निमारूत रूप प्रजापति वीर्य से देवताओं ने सृष्टि उत्पन्न की। अस्तु जब प्रजापति का मस्तक कट जाने पर देवताओं का क्रोध शान्त हुआ तब उन्होंने प्रजापति की चिकित्सा की। प्रजापति के शल्य उस बाण को निकाल दिया। जिस प्रजापति का मस्तक रुद्र ने बाण से विद्ध किया तथा जिसकी बाद में देवताओं ने चिकित्सा की वह प्रजापति यज्ञस्वरूप ही था।[८] उन देवताओं ने कहा ऐसा उपाय सोचना चाहिए जिससे प्रजापति का यह वीर्य दूषित न हो तथा इसका स्वल्प भाग आहुति में रहे। अन्यथा यज्ञ के निर्वीर्य होने की सम्भावना है।[९] उन देवताओं ने कहा कि दक्षिण की ओर बैठे हुये भग देवता के लिए इसको प्रदान करें। भग देवता उसका भक्षण करेगा तो यह वीर्य अग्नि में आहुत के समान हो जायेगा क्योंकि भग आदित्यरूप होने से अग्नि है, यज्ञ है।[१०] उसके द्वारा भक्षित यह वीर्य यज्ञ में ही हुत माना जायेगा। अतः उन्होंने दक्षिण की तरफ बैठे हुये भग देवता को प्रजापति का वीर्य समर्पित किया। उसने उस वीर्य पर दृष्टि डाली। उस वीर्य ने भग की आँख जला दी, क्योंकि वह प्रजापति का वीर्य वस्तुतः बहुत ही प्रज्ज्वलित था। इसीलिये कहा जाता है कि भग अन्धा है।[११] उन

---

[८] तदग्निमारुतमित्युक्थम्। तस्मिंस्तद्व्याख्यायते - यथा तद्देवा रेतः प्रजनयन्।
तेषां यदा देवानां क्रोधोऽव्यैद्-अथ प्रजापतिमभिषज्यन्। तस्य तं शल्यं निरकृन्तन्॥
स वै यज्ञ एव प्रजापतिः। शत. १/७/४/४

[९] ते होचुः उपजानीत यथेदं नामुयासत् कनीयो हाहुतेर्यथेदं स्यादिति॥ शत. १/७/४/५

[१०] यज्ञो भगः। शत. ६/३/१/१९

[११] ते होचुः भगायैनद्दक्षिणत आसीनाय परिहरत् तद्भगः प्राशिष्यति, तद्यथाहुतमेव भविष्यतीति तद्भगाय दक्षिणत आसीनाय पर्याजह्रुः, तद्भगोऽवेक्षांचके, तस्याक्षिणी निर्ददाह

देवताओं ने कहा कि भग इस वीर्य का शमन नही कर सके। अतः पूषा देवता को यह वीर्य समर्पित किया जाये। उसे पूषा देवता को दिया गया। पूषा ने उसका भक्षण किया, उसके दाँत टूट गये क्योंकि वह वीर्य वस्तुतः बहुत ही तीव्र अर्थात् प्रज्ज्वलित अग्निमय था इसीलिये पूषा देवता को अदन्तक कहा जाता है। अतः यज्ञ में पूषा देवता को दन्तरहित होने से पिसे हुये पुरोडाश के चरु की आहुति दी जाती है। जैसे दन्तरहित को दी जाती है।[१२] उन देवताओं ने विचार किया कि पूषा देवता से वीर्य का शमन नहीं हुआ अतः उसे बृहस्पति को दिया जाये। उन्होंने बृहस्पति को दिया, वह बृहस्पति अनुज्ञा प्रेरणा प्राप्त करने के लिए प्रेरणा प्रदाता सविता देवता के पास गया, क्योंकि सविता देवताओं को प्रेरणा प्रदान करने वाला है। बृहस्पति ने कहा कि मुझे इस वीर्य रूप आहुति के ग्रहण करने की अनुज्ञा प्रदान कीजिये। अनुज्ञा प्रदाता सविता ने उसे अनुज्ञा प्रदान कर दी। अतः सविता से अनुज्ञात वीर्य ने बृहस्पति को कोई हानि नहीं पहुंचायी। तब वह वीर्य बृहस्पति के भक्षण करने से पूर्ण शान्त हो गया। उसकी उग्रता सविता के द्वारा नष्ट कर दी गयी। बृहस्पति रूप ब्रह्मा ने ही प्रजापति के वीर्य का भक्षण किया था। अतः निदान विद्या के आधार पर वैधयज्ञों में भी ब्रह्मा ही प्राशित्र का भक्षण करते हैं[१३] अतः

तथेन्नूनं तदास। तस्मादाहुरन्धो भग इति। शत. १/७/४/६

[१२] ते होचुः नोन्वेवात्राशमत् पूष्ण एनत् परिहरतेति। तत् पूष्णे पर्याजह्रुः तत् पूषा प्राश, तस्य दतोनिर्जघान, तथेन्नूनं तदास। तस्मादाहुरदन्तकः पूषेति। तस्माद्य पूष्णे चरूं कुर्वन्ति प्रपिष्टानामेव कुर्वन्ति यथा अदन्तकाय- एवम्। शत. १/७/४/७

[१३] ते होचुः नो नैवात्राशमत् बृहस्पतये एनत् परिहरेतेति। तद् बृहस्पतयेपर्याजह्रुः। स बृहस्पतिः सवितारमेव प्रसवायोपाधावत्। सविता वै देवानां प्रसविता। इदं मे प्रसुवेति। तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्। तदेनं सवितृप्रसूतं नाहिनत्। ततोऽर्वाचीनं शान्तम्। तदेतन्निदानेन यत् प्राशित्रम्। शत. १/७/४/८

''**प्राशिता प्राप्त अस्य**'' इस व्यत्पत्ति से इसे प्राशित्र कहा जाता है।

अस्तु, यह प्राशित्र हरण प्रकरण की आख्यायिका शतपथ में वर्णित है। इस प्रकार की आख्यायिकायें वेद, ब्राह्मणादि साहित्य में प्रचुरमात्रा में वर्णित है। इस प्रकार की आख्यायिकाओं का प्रयोजन गूढ़ विज्ञान को सरल रीति से समझाना है। प्राचीन काल में विभिन्न विषयों को समझाने के लिए नाना प्रकार की शिक्षण प्रणालियाँ प्रचलित थीं। गूढ़ से गूढ़ विज्ञान को भी इस तरह से बतलाया जाता था कि जिससे अल्पमति वाले भी सुखपूर्वक समझ सकते थे। जैसे उद्गीथ विद्या, शाण्डिल्य विद्या, पुरुष विद्या, भूगर्भ विद्या, दगार्गल विद्या, सामुद्रिक विद्या, पालाकाप्य विद्या, अश्व विद्या, धनुर्विद्या, जलसंप्लवन विद्या इत्यादि नाना विद्यायें उस समय इस देश में विद्यमान थी।[१४] इन्हीं विद्याओं मे से एक नक्षत्र विद्या उस समय उन्नत शिखर पर थी। प्रकृत आख्यायिका में नक्षत्र विज्ञान का दिग्दर्शन कराया है। यह विद्या भी दो भागों में विभक्त थी १. ज्योतिश्चक्र, २. पुराण (आख्यायिका रूप)। तारों के बिम्बों का अवलम्बन कर अर्थात् आधार मानकर उन तारों की स्थिति, ऊपर, नीचे, उनकी दूरी, उदय, अस्त का (कौन सा तारा कितने समय तक दृश्य मण्डल में रहता है तथा कौन कितने समय तक अदृश्य मण्डल में रहता है) गति का कौन कितने समय में अपने वृत्त की परिक्रमा लगा लेता है इत्यादि का ज्ञान जिसके द्वारा कराया जाता है, उसका नाम ज्योतिश्चक्र है एवं इनके गूढ़ातिगूढ़ विज्ञानों को भी अति सरलतया समझाने के लिए क्रान्तिवृत्त के छन्दों को घोड़े के रूप में कल्पित कर एवं सूर्य तथा नक्षत्रों के प्रकाशमण्डल की रथ रूप में कल्पना करके आकाश मण्डलस्थ नक्षत्रों को विभिन्न समुदाय में विभक्त कर किसी को सर्प, किसी को ब्रह्मा किसी

[१४] छान्दोग्योपनिषद् नारद सनत्कमार संवाद।

को इन्द्र, किसी को ऋषि, किसी को रुद्र, किसी को बृहस्पति मानकर ब्रह्मा, रुद्र इत्यादि प्राण देवताओं के विज्ञान को समझाने के लिए इन नामों की नक्षत्रों पर कल्पना की गयी है। जिस भाग में यह कल्पना की गयी है उसे पुराण या आख्यायिका भाग कहते हैं। ये आख्यायिकायें नित्य आख्यायिकायें हैं। जिससे भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इनको अपने अपने चिन्तन से भिन्न-भिन्न सृष्टि रहस्यों का अवलोकन किया है। इस शतपथ आख्यायिका में भी अलग-अलग रहस्य हैं। तभी तो कुछ प्रजापति की दुहिता द्यौ को मानते हैं कुछ उषा को। प्रथमतः द्यौ परक व्याख्या ऐतरेयब्राह्मण में नक्षत्र विज्ञान के रहस्य का अवलोकन कराया गया है।[१५] ऐतरेय ब्राह्मण अग्निमारुत शस्त्र के प्रकरण में विवेचित है।

अस्तु इस आख्यायिका के विश्लेषण से पहले आकाशस्थ नक्षत्रमण्डल की स्थिति बतलाना चूँकि आवश्यक है। वह इस प्रकार है कि क्रान्तिवृत्त के बीच का जो नक्षत्रमण्डल है, ज्योतिषियों ने उसे २८ भागों में विभक्त कर रखा है। इन्हीं को २८ नक्षत्र कहते हैं। कई नक्षत्रों को मिलाकर प्रत्येक नक्षत्र समूह की १२ राशियों की कल्पना की है। प्रकृत आख्यान कृत्तिका नक्षत्र से पूर्व लुब्धकबन्धु से पश्चिम शशलाच्छनापरपर्यायक चन्द्र से एवं श्याव और शबल नाम के दो श्वानों से उत्तर तथा प्रजापति और पुनर्वसु से दक्षिण तक का जो आकाश मण्डल है एवं इतने आकाश मण्डल में जितने तारे हैं, उन पर देवों की कल्पना कर प्रस्तुत आख्यान रचा गया है। जो देव हैं वे वस्तुतः प्राणदेवता है। इन नक्षत्रों में जो रोहिणी नामक शकटाकार नक्षत्र है, उसे प्रजापति की पुत्री रूप में बताया गया है।[१६] बस इस पुत्री को आधार

[१५] ऐत. ब्रा. १३/९

[१६] या दुहिता रोहिता रोहिद् रक्तवर्णा मृगी सेयमाकाशे रोहिणी नक्षत्रमभूत्॥ ऐत.ब्रा.

मानकर यह आख्यान व्याख्यात है।

कृत्तिका नक्षत्र से पूर्व चमकते हुये एवं कुछ लाली लिये हुये शकटाकार पाँच तारे हैं चूँकि ये लाली लिये हुये हैं अत एव इन्हें रोहिणी कहते हैं।[१७] इस रोहिणी से पूर्व में १०-१५ तारों का एक समूह है जो कि मस्तक के आकार का दिखलाई पड़ता है। यह आकाश में आर्द्रा और रोहिणी के मध्य में उठा हुआ ऋष्यमृग रूप प्रजापति है। इसे ही लोक में मृग कहते हैं, ज्योतिष को जानने वाले। यही मृगाशिरा नक्षत्र है।[१८] यही प्रजापति का मस्तक है। इस मृगशिरा के पास ही तीन चमकीले तारे हैं। इसी को बाण कहते हैं। इससे पूर्व थोड़ी दूर के फासले पर एक अत्यन्त ही तीव्र तारा है, इसे लुब्धक कहते हैं। इसी का नाम रुद्र है। ये ही नक्षत्र इस आख्यान के नायक हैं।[१९]

अस्तु, विज्ञान आख्यायिका का रहस्य यह है कि मृगशिरा (प्रजापति) ने मृगरूप धारण कर अपनी पुत्री रोहिणी का पीछा किया। जब रोहिणी ने मृगशिरा को अपने ऊपर आक्रमण करते देखा तो डर के कारण रोहिणी ने वहाँ से भागना प्रारम्भ किया। जब अन्य देवताओं नक्षत्रों ने देखा कि यह मृगशिरा रूपी प्रजापति बड़ा ही दुष्कर्म कर रहा है। अतः इसे मार देना चाहिए। यह विचार कर सारे देवताओं ने अपने

सायण भाष्य १३/९

[१७] या रोहित् सा रोहिणी। ऐत.ब्रा. १३/९। प्रजापति सुता रोहिद्रोहिणी नाम भं त्वभूत्॥ ऐत.षड्गु. १३/९

[१८] रोहिण्याद्रो भयोर्मध्ये मृगशीर्षेति नाम भम्। ज्योतिश्शास्त्रविदः प्राहुर्मृग इत्येकदेशतः॥ ऐत.षड्गु. १३/९

[१९] य उ एव यस्तु रुद्रो मृगव्याधो मृगघाती स रुद्र आकाशे दृश्यमानः स उ एव लोक प्रसिद्धो मृगव्याध आसीत्। ऐत. सायण भा. १३/९

तेज को एकत्रित किया। उसी एकीकृत तेज से घोर रुद्र हुआ।[20] देवताओं ने रुद्र से कहा इस मृगशिरा प्रजापति ने अपनी पुत्री रोहिणी से अकृत कर्म किया है अतः इसे मार दो। रुद्र ने वैसा ही किया।[21] उस लुब्धक रूपी रुद्र ने अत्यन्त ओजस्वी होकर रोहिणी पर हमला करने वाले प्रजापति को बाण से विद्ध कर दिया। रुद्र से परित्यक्त बाण से उसी समय प्रजापति का सिर कट गया एवं धड़ दूर जाकर गिरा। जिस समय प्रजापति का मस्तक कट गया उस मस्तक के कटते ही उसका वीर्य भूमि पर गिर गया। जो बाण रुद्र के हाथ से छूटा था। वह उस पतित वीर्य को जलाने के लिए, नष्ट करने के लिए आगे बढ़ा। देवताओं ने देखा कि यह वीर्य को दूषित न कर दें इसलिए देवताओं ने मादुष-मादुष यह कहा अतएव उस वीर्य का नाम मादुष हो गया।

चूँकि देवता लोग परोक्ष प्रिय है अतएव इसे वे मानुष कहते हैं।[22] अस्तु इस आख्यायिका के माध्यम से बताया गया है कि आकाश में नक्षत्र दृश्य मण्डल के अनुसार प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम जाते हुये दिखाई पड़ते हैं। प्रथम अश्विनी जाता है उसके बाद भरणी तदनन्तर कृत्तिका जाता है तदनन्तर रोहिणी तदनन्तर उसके पीछे-पीछे ही मृगशिरा (प्रजापति)

---

[20] प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्। तं देवा अपश्यन्। अकृतं वै प्रजापतिः। ते तमैच्छन् य एनमारिष्यत्ये तमन्योन्यस्मिन्नाविन्दन् तेषां य घोरमास्तन्व आसंस्ता एक धासमभरन् ताः संभृताः एष देवोऽभवत् तदस्यैतद्भूतवन्नाम। ऐत. १३/९

[21] ते देवा अब्रुवन्। अयं वै प्रजापतिरकृतमकरिमं विध्येति स तथेत्यब्रवीत्। ऐत. १३/९

[22] तम भ्यायत्याविध्यत् स विद्ध ऊर्ध्व उदप्रपतत् तमेतं मृग इत्याचक्षते, य उ एव मृग व्याधः स उ एव सः। तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत् तत्सरोऽभवत्, ते देवा अब्रुवन् मेदं प्रजापतेरेतो दुषदिति, यदब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति, तन्मादुषमभवत् तन्मादुषस्य मादुषत्वं मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषं तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षतेपरोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥ ऐत.ब्रा. १३/९

जाता है। बस इस गति क्रम को बतलाने के लिए ही "प्रजापति रोहिणी के पीछे दौड़ा" यह कहा गया है। इस आकाश मण्डल के तारे ही देवता हैं। रुद्र ही आर्द्रा नक्षत्र है।[२३] रुद्र (लुब्धक नक्षत्र) में सारे देवताओं का तेज है। यह कहा गया हैं। इसका तात्पर्य यही है कि आकाशस्थ प्रत्येक तारे में भिन्न-भिन्न प्रकार का अपना तेज (छन्दत्व) है, रस है। परन्तु लुब्धक तारे में आकाश मण्डलस्थ अर्थात् इसी नक्षत्र समूह मण्डलस्थ सभी नक्षत्रों की किरणें (छन्द) या रस उपस्थित है। जैसे यावन्मात्र वनस्पति का रस उदुम्बर में रहता है।[२४] उसी प्रकार सारे नक्षत्रों का रस (छन्दस्) इस लुब्धक बन्धु (आर्द्रा) नक्षत्र में रहता है। बस इसी विज्ञान को बतलाने के लिए यह आख्यान है।

अस्तु, इसी आख्यान को कुछ ऋषि प्रजापति की दुहिता उषा है[२५] यह मानकर व्याख्यात करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उषा को सूर्य परक व्याख्यात किया है। प्रजापति द्वादश माने गये हैं। उनमें से एक प्रजापति को द्यु प्रजापति कहते हैं जैसा कि श्रुति प्रतिपादित करती है। द्यौ अर्थात सूर्य का प्रकाश है सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है। जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चाँदनी तान देते हैं अथवा आमने सामने दो सेना होती हैं, इसी प्रकार सूर्य और पृथिवी अर्थात् ऊपर की चाँदनी के समान सूर्य और नीचे के बिछौने के समान पृथिवी है। यहाँ पिता पर्जन्य दुहिता पृथिवी में गर्भ अर्थात जल वृष्टि द्वारा धारण कराता है। क्योंकि पर्जन्य के जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती

---

[२३] मृगव्याधो यस्तु देवः स एवार्द्रेति नाम भम्। यदार्द्रा नक्षत्रं रुद्रो देवतेति ह्याधीयते। ऐत. षड्गु शि. १३/९

[२४] अधो सर्व एते वनस्पतयो यदुदुम्बरः॥ शत.ब्रा. ७/५/१/१५

[२५] उषसमित्यन्ये। ऐत.ब्रा. १३/९

है।[२६]

वह इस प्रकार यह जो उषा है, वह इसी द्यु प्रजापति से उत्पन्न होती है। अतएव इसे प्रजापति की पुत्री बतलाया गया है। यहाँ प्रजापति सूर्य को कहते हैं।[२७] क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसकी ही सन्तान कहाता है। उषा सूर्य से उत्पन्न होने के कारण उसकी पुत्री कहाती है। ऋचा भी यही प्रतिपादित करती है।[२८] बस इस उषा के ऊपर ही यह सूर्य प्रजापति दौड़ता है। प्रातःकाल के समय प्रतिदिन यह सूर्य प्रजापति इस उषा के पीछे रहता है अर्थात् जिस समय सूर्योदय होता है, उस समय उषा इससे ३० अंश आगे रहती है। सूर्य प्रजापति उषा के ऊपर आक्रमण करता है, इस बात को श्रुति स्पष्ट शब्दों मे बताती है कि जिस प्रकार से स्त्री पर पुरुष पीछे से आक्रमण करता है उसी समन सूर्य उषा के पीछे दौड़ता है।[२९] इस प्रकार से प्रजापति सूर्य ने इसमें वीर्य सेचन कर दिया। इस वीर्य सेचन से ''कुमार'' उत्पन्न हुआ। वह कुमार दिवस था। श्रुति प्रतिपादित करती है कि वह्नि शब्द के द्वारा सूर्य और सूर्य की पुत्री उषा को कहा है। सूर्य पिता के द्वारा पुत्री उषा में किरण रूपी वीर्य का स्थापन करने से दिवस नामक पुत्र उत्पन्न होता है।[३०]

---

[२६] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय के अन्तर्गत ब्राह्मणः स्वदुहित्रा सह मैथुनम्॥

[२७] प्रजापति वैं सुपर्णो गरुत्मानेष सविता॥ शत. १०/२/२/४

[२८] एष दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्तीयुवतिः शुक्रवासाः।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषोअद्येहसुभगे व्युच्छ। ऋग्. १/१४/३

[२९] सूर्यो देवीमुषसं रोचमानांमर्यो न योषामभ्येति पश्चात्। ऋग्. १/११५/२

[३०] शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यङ्गाद्विद्वां ऋतस्य दीधितिं सपर्य्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्तसंशग्म्येन मनसा दधन्वे। ऋग्वेदादि भा.भू.

जब प्रजापति को ऐसा कुकृत्य करते देखा तो रुद्र ने इसका मस्तक काटा गिराया तात्पर्य इसका यही है कि सूर्य की गर्मी जो पृथिवी में समा जाती है, वही प्रवर्ग्य कहलाती है। इस प्रवर्ग्य से ही सारे संसार की उत्पत्ति होती है अर्थात् सूर्य की गर्मी जब पार्थिव पदार्थो में आती है तभी उनका परिपाक होता है। जब इस परिपाक से अन्न पक जाता है तो इस पके अन्न के खाने से वीर्य उत्पन्न होता है एवं इससे ही सृष्टि होती है, जिस समय सूर्य अस्त हो जाता है तब भी उसकी गर्मी अवशिष्ट रह जाती है। अतएव गर्मी के दिनों में रात के समय में सूर्यास्त होने पर भी गर्म वायु बहती रहती है। चूँकि यह भाग सूर्य से अलग हो जाता है अतएव इसी अभिप्राय से ''प्रजापति का मस्तक कट गया'' यह कहा जाता है बस इसी विज्ञान के बताने के लिए ''**प्रजापतिर्ह वै स्वं दुहितरमभिदध्यौ दिवं वा उषसं वा**'' कहा गया है। अस्तु कोई इस आख्यान को अनित्य ऐतिहासिक न मान ले इसी लिए अन्त में भगवान् याज्ञवल्क्य कहते है कि वह प्रजापति यज्ञस्वरूप ही था।[३१]

ग्रन्थाप्रामाण्याप्रामाण्य। ऋग्वेद ३/३१/१

[३१] स वै यज्ञ एव प्रजापतिः। शत.ब्रा. १/७/४/४

प्रकाशक
स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१
अणुवाक्: pavamani86@gmail.com